



UNIVERSAL  
LIBRARY

OU\_186811

UNIVERSAL  
LIBRARY





प्रकाशक—

श्रीरामविलास पाण्डेय

अध्यक्ष—सरस्वती पुस्तक-भंडार

आर्यनगर लखनऊ

1965

सर्वाधिकार सुरक्षित

मुद्रक—

पं० मदनमोहन शुक्ल 'मदनेश'

साहित्य-मन्दिर प्रेस लिमिटेड,

लखनऊ

## इस पुस्तक पर दो अमूल्य सम्मतियाँ

माननीय बा० सम्पूर्णानन्दजी, शिक्षा-मंत्री, यू. पी. सरकार, लिखते हैं—मैंने श्रीचन्दीप्रसाद वी० ए० की 'राजनीति के मूल सिद्धान्त, नामक पुस्तक को देखा। यह कहना तो ग़लत होगा कि मैं उसका एक एक पन्ना पढ़ गया, पर इतना अवश्य देख लिया कि उसके सम्बन्ध में कुछ राय दे सकूँ।

हिन्दी भाषा में इस विषय पर एक पुस्तक का होना बहुत आवश्यक है। जो लोग पत्रों का संचालन और सम्पादन करते हैं और राजनीतिक क्षेत्र में काम करते हैं, उनमें भी बहुत से ऐसे हैं, जो राजनीतिक मुख्य मुख्य सिद्धान्तों से पूर्णतया परिचित नहीं हैं, और इसीलिये वह राजनीति के व्यवहारिक रूप को समझने समझाने में भी भूल कर जाते हैं। इस दृष्टि से लेखक का प्रयास प्रशंसा के योग्य है। ..... किन्तु यह विचारणीय है कि ( Socialism ) को साम्यवाद कहना कहाँ तक उचित है। जहाँ तक मैं जानता हूँ न केवल हिन्दी बरन् गुजराती, बँगला आदि में भी समाजवाद का प्रयोग बढ़ रहा है। साम्यवाद तो सर्वथा भ्रामक है।

सम्पूर्णानन्द

( माननीय सम्पूर्णानन्दजी की राय से साम्यवाद के स्थान पर समाजवाद कर दिया गया है। )

—लेखक

## श्रीयुत कर्मवीर सुन्दरलाल जी लिखते हैं ।

मैंने इस पुस्तक के मसौदे को जगह जगह से देखा है । गाँधीवाद और 'उपसंहार' इन दो अध्यायों को ध्यान से पढ़ा है । इसमें शक नहीं, लेखक ने इस समय के मुख्य मुख्य राजनैतिक सिद्धान्तों का काफी मेहनत के साथ अध्ययन किया है और उन्हें खूब समझा है । लेखक के विचारों से जहाँ तक मैं पढ़ पाया हूँ, मैं करीब करीब पूरी तरह सहमत हूँ । उनके विचार अधिकांश में मेरे विचार हैं । मैं समझता हूँ, अपने से भिन्न विचारों और सिद्धान्तों को भी उन्होंने निष्पक्षता के साथ पाठकों के सामने रख दिया है । जो लोग हिन्दी में आजकल के मुख्य मुख्य राजनैतिक सिद्धान्तों और विचार धाराओं से जानकारी प्राप्त करना चाहते हों उनके लिये यह छोटी सी पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है । मैं समझता हूँ हिन्दी भाषा के राजनैतिक साहित्य में एक बहुत बड़ी कमी को इसने बहुत अच्छे ढंग से पूरा किया है ।

सुन्दर लाल

५६ चौक, इलाहाबाद

## दो शब्द

इस छोटी सी पुस्तक के सम्बन्ध में कुछ भी कहने के पहिले मैं कर्मवीर पं० सुन्दरलालजी व माननीय बा० सम्पूर्णानन्दजी को हार्दिक धन्यवाद देना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ। सुन्दरलालजी ने अपने अमूल्य समय में से कुछ अवसर निकालकर इस पुस्तक के 'गांधीवाद' व 'उपसंहार' नामक अध्यायों की दुरुस्ती उसी परिश्रम से की जिस प्रकार एक अध्यापक अपने विद्यार्थी की नोटबुक जाँचता है। इसके सिवा उन्होंने अन्य अध्यायों पर भी एक दृष्टि डालने की कृपा की हमारे शिक्षा विभाग के मन्त्री माननीय बा० सम्पूर्णानन्द जी ने तो सम्पूर्ण शिक्षा-विभाग का भार अपने कंधों पर होते हुए भी जो थोड़ा बहुमूल्य समय इस पुस्तक के अवलोकन में दिया, उसकी कृतज्ञता का प्रकाश शब्दों में नहीं हो सकता है। आपने 'समाजवाद' नामक अध्याय को बड़े ध्यान पूर्वक पढ़ा और 'कम्युनिस्टवाद' में बहुत से संशोधन करने की सलाह दी। आपही की सलाह से मैंने 'साम्यवाद' के स्थान पर 'समाजवाद' शब्द का प्रयोग किया है। इन दो महानुभावों की अनुकम्पा के फलस्वरूप पाठकों के सामने यह पुस्तक कुछ परिष्कृत रूप में लाते हुए मुझे हर्ष है।

भारत का वायुमंडल दिन प्रतिदिन राजनैतिक होता जा रहा

है, किन्तु साधारण जनता ही नहीं बल्कि बहुत से पढ़े-लिखे भाई भी मूल राजनैतिक सिद्धान्तों से इतने अपरिचित हैं कि वे आये दिन के कार्यों, वादविवाद और बातचीत में ही सिद्धान्तिक गलतियाँ नहीं किया करते हैं वरन् प्रायः ऐसे सिद्धान्तों का समर्थन करने लगते हैं कि जिन्हें यदि वे ठीक ठीक जान लें तो उनका हृदय स्वीकार नहीं कर सकता। इसका कारण राष्ट्रभाषा हिन्दी में सिद्धान्तिक पुस्तकों की कमी है। इस कमी को यथाशक्ति यह पुस्तक पूरा करेगी।

भारत एक निर्धन देश है। निर्धन पाठक बहुत से सिद्धान्तकों से जानने के लिये बहुत सी पुस्तकें मोल नहीं ले सकते। अनेक पाठक किसी एक सिद्धान्त का पक्षपात पूर्ण वर्णन किसी एक पुस्तक में पढ़कर उसी के अनुयायी हो जाते हैं। इसलिये थोड़े से मूल्य में सभी आवश्यक सिद्धान्तों का संक्षिप्त, पक्षपात रहित और आलोचनात्मक विश्लेषण हिन्दी पाठकों के सामने रखकर उन्हें स्वतन्त्र निर्णय के योग्य बनाना इस पुस्तक का ध्येय है।

आशा है कि निकट भविष्य में समस्त शिक्षा का माध्यम हिन्दी होगा। मुझे यह भी आशा है कि स्कूल की ऊँची बच्चासों तथा कालेज में राजनीति एक अनिवार्य विषय हो जायगा। उस समय इस प्रकार की पाठ्य पुस्तकों की आवश्यकता होगी। इसलिये पुस्तक का तीसरा ध्येय इस आनेवाली आवश्यकता को पूरा करना है। यही कारण है कि मैंने, कहीं भी भावों के आवेश में न बहकर हर सिद्धान्त का

वर्णन निष्पत्त भाव से करने की कोशिश की है। मेरे इस अनधिकार पूर्ण प्रयास में अनेकों अशुद्धियाँ होंगी, विद्वानों से प्रार्थना है कि वह उन्हें क्षमा करें।

भारतीय विद्यालय,  
कानपुर  
दिसम्बर, १९३८ ई०

}

विनीत—  
**चन्दीप्रसाद**



# विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

|                                                                        |      |      |     |
|------------------------------------------------------------------------|------|------|-----|
| व्यष्टिवाद ( Individualism )                                           | .... | .... | ११  |
| वर्तमान समाजवाद की उत्पत्ति ( Genisis of<br>socialism )                | ...  | ...  | २७  |
| समष्टिवाद (Collectivism or State socialism)                            | .... |      | ३५  |
| कम्युनिस्टवाद ( Communism )                                            | .... | ...  | ४३  |
| अराजकवाद ( Anarchism )                                                 | ...  | .... | ५२  |
| संसीसी व्यापार-संघवाद                                                  | ...  | .... | ६४  |
| गिल्ड समाजवाद ( Guild socialism )                                      |      | .... | ७४  |
| स्टेट सोशलिज़्म और कम्युनिज़्म में मुख्य भेद...                        |      | .... | ८१  |
| समाजवाद पर स्पष्ट विवेचन                                               | ...  | .... | ८५  |
| साम्राज्यवाद ( Imperialism )                                           | .... | .... | १०० |
| फ़ासिस्टवाद ( Fascism )                                                | .... | ...  | ११४ |
| नाज़ीवाद ( Najism )                                                    | .... | .... | १२८ |
| गांधीवाद ( Gandhism )                                                  | .... | .... | १४२ |
| राष्ट्रवाद एवं अन्तर्राष्ट्रवाद (Nationalism & Inter-<br>nationalism ) | ...  | .... | १५६ |
| स्वतंत्रता-समानता तथा अधिकार ( Liberty, equality<br>& rights )         | .... | ...  | १६६ |
| समानता ( Equality)                                                     | ...  | .... | १७८ |
| उपसंहार                                                                | .... | ...  | १९७ |



## व्यष्टिवाद ( Individualism )

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में योरोप में सरकार की प्रभुता के प्रति प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। उस प्रतिक्रिया का प्रारम्भ आर्थिक था। लोग व्यापार के क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते थे। इसी भावना से प्रभावित होकर लोगों ने यह कदम प्रारम्भ कर दिया कि सरकार सर्व-शक्तिमान नहीं होनी चाहिये। लोगों ने यह भी साबित कर दिया कि स्वतन्त्रता में व्यर्थ की अड़चनें डालने वाली सरकार मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास का हनन करती है। धीरे-धीरे यह आन्दोलन जा कि व्यष्टिवाद ( Individualism ) के नाम से प्रसिद्ध है, जोर पकड़ गया। इसके समर्थन में कैरीटीज, रिकार्डों, माल्थू इत्यादि ने बहुत कुछ लिखा है ; किंतु इस धारा को सफल बनाने वालों में जर्मन फ़िलास्फ़र काण्ट और इंग्लैंड के विद्वान् स्पेन्सर व जानस्टुअर्टमिल का नाम कभी भी नहीं भुलाया जा सकता है।

व्यष्टिवाद का कहना है कि राज्य की सत्ता शक्ति पर अवलम्बित है, उसके प्रत्येक कार्य में व्यक्ति को बाध्य करने का भाव निहित रहता है। अतः समाज के कौन से कार्य राज्य को करने चाहिये और कौन व्यक्ति के निजी प्रयत्नों के लिये छोड़ देने चाहिये, यह प्रश्न अत्यन्त गम्भीर समझा जाता है। व्यष्टिवादियों का सिद्धान्त यह है कि राज्य को चाहिए, जहाँ तक हो सके, वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता का सम्मान

करे, और अपने कार्य एक अनिर्णय एवं अत्यन्त संकीर्ण क्षेत्र ही तक परिमित रखे। राज्य का प्रधान कार्य शान्ति स्थापित करना है अतः वह अपने को इसी कार्य के सम्पादन में लगाए। किसी व्यक्ति को किसी कार्य के लिये बाध्य करना या उसे किसी कार्य से भना करना उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण का अर्थ रखते हैं; किन्तु राज्य के सभी कार्यों में शक्ति द्वारा जनता को बाध्य करने का भाव रहता है, अतः जिस अनुपात से राज्य का कार्य क्षेत्र बढ़ता जायेगा उसी अनुपात से व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हास होता जायेगा व्यष्टिवादी राज्य को प्रादुर्भूति बुराई से मानते हैं; उनका कहना है कि प्रारम्भ में राज्य निर्माण की आवश्यकता बुराइयों को दवाने के लिये पड़ी थी, और राज्य-सत्ता संसार में आज भी इसी लिये कायम है, कि संसार में अपराध भी कायम है। अतः राज्य का एकमात्र उचित कार्य यही होगा कि वह व्यक्ति को रक्षा करे और जुर्म को दवाये। जनता के जीवन को उन्नत एवं अच्छा बनाने का प्रयास करना राज्य का कार्य नहीं है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि व्यष्टिवादी धारणा के अनुसार राज्य को केवल शान्ति स्थापित करने वाले तथा रक्षात्मक कार्यों तक ही सीमित रहना चाहिये और समाज के अन्य कार्यों, जैसे कल कारखाने चलाना, स्कूल व अस्पताल इत्यादि खोलना, निर्धन व बेकार व्यक्तियों की रक्षा करना, डाक व तार के प्रबन्ध को अपने हाथ में लेने का प्रयास उसे कभी भी नहीं करना चाहिये। यह सब कार्य तो व्यष्टि के व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा ही अच्छे हो सकते हैं। समाज की मानसिक एवं अध्यात्मिक उन्नति के सम्बन्ध में राज्य

का मुख्य कर्तव्य यही है कि वह अपना हाथ इन मामलों से अलग रखे। इस प्रकार हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि व्यष्टिवाद राज्य के कार्य क्षेत्र को अत्यन्त संकुचित रखने का पक्षपाती है क्योंकि ऐसा होना व्यष्टि की स्वतन्त्रता के लिये अत्यन्त आवश्यक है। फ्रांसीसी व्यष्टिवादी विद्वान् जेलस सायमन (Jelus Simon) के कथनानुसार राज्य को चाहिये कि वह अपने को निरर्थक बना लेने का प्रयत्न करे। फ्रीमैन (Free man) लिखते हैं कि, 'आदर्श सरकार वही है जहाँ सरकार ही न रहे; सरकार की आवश्यकता मनुष्य की अपूर्णता प्रदर्शित करती है।' संक्षेप में व्यष्टिवादियों के अनुसार मनुष्य को उसकी इच्छा के अनुसार कार्य करने दे। अपनी उन्नति व अवनति, भलाई व बुराई मनुष्य स्वयं सम्भालता है, अतः जब उसके बन्धन ढाले कर दिये जायेंगे, तभी वह अपने को सुखी अनुभव करेगा।

## व्यष्टिवाद के पक्ष में दी जानेवाली दलीलें।

### १—न्याय के आधार पर अवलम्बित दलील

यदि न्याय की दृष्टि से देखा जाय तो प्रत्येक व्यक्ति को, जहाँ तक सम्भव होसके, स्वतन्त्र छोड़ दिया जाना चाहिये ताकि वह अपनी उन्नति अपने मनचाहे मार्ग का अनुकरण करके कर सके। जान स्टुअर्टमिल (John Stuart Mill) तथा कांट (Kant) इत्याद तत्त्वदर्शी विद्वान् इसी धारणा के पक्ष में हैं। कहा जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति में अपनी निजी विशेषतायें होती हैं, अतः यदि उसे

अपने मनचाहे मार्ग पर चलने दिया जायगा तो जीवन की स्वतन्त्र प्रतियोगिता में उसके व्यक्तित्व के सर्वोत्तम गुण विकसित हो जायेंगे। अतः यदि सरकार चाहती है कि जनता उन्नति करे, उसका विकास हो, व्यक्ति अपना अच्छे में अच्छा रूप समाज के सामने रखे, तो उसे चाहिए कि वह उसके स्वतन्त्र संवर्ष में हस्तक्षेप न करे। ऐसा न करना व्यक्ति के साथ घोर अन्याय करना होगा। शिक्षा, स्वास्थ्य इत्यादि में राज्य की दस्तन्दाजी सम्पूर्ण जनता को एक ही साँचे में ढालना चाहती है, जिसके कारण व्यक्ति का वह व्यक्तित्व जिसमें उत्तम गुण निहित रहते हैं, नष्ट होजाता है। अतः यदि सामाजिक उन्नति का क्रमवद्ध विकास वांछनीय है और संसार को केवल मध्यम वर्ग से ही नहीं भर देना चाहा जाता है, तो व्यक्ति को अपनी उन्नति के लिये स्वतन्त्र छोड़ना अत्यन्त आवश्यक है। समाज की उन्नति व्यक्ति की उन्नति पर निर्भर है, और व्यक्ति अपनी उन्नति के लिये पूर्ण स्वतंत्रता चाहता है।

मिल ( Mill ) उक्त धारणा का सबसे योग्य प्रवर्तक हुआ है। उसने अपनी 'स्वतन्त्रता' नामक पुस्तक में लिखा है कि जहाँ तक अपने विचार प्रकट करने का सम्बन्ध है, व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिये, क्योंकि व्यक्तियों के विचारों को नियमबद्ध करने का प्रयास सच्चाई दबा देने के बराबर होगा। एक दबाया हुआ विचार या तो पूर्ण सच होगा या कुछ सच और कुछ झूठ या पूर्णतया झूठ होगा। यदि वह पूर्णतया सच था, तो एक सच्चाई सर्वदा के लिये बिलीन हो गई ; यदि उसका कुछ अंश भी सच था, तो भी

झूठ के साथ ही साथ आवश्यक सत्य का भी गला घुट गया ; यदि पूर्ण असत्य तो भी, मिल के अनुसार, उसका दबाना अन्याय ही है, क्योंकि एक असत्य विचार आलोचना एवं तर्क को प्रोत्साहन देना है और इनके द्वारा सच्चाई की चिनगारियाँ उसी प्रकार चमक उठती हैं जिस प्रकार बापू के भोंके, चार में छिपी हुई चिनगारी को प्रज्वलित कर देते हैं। इसलिये मिल ( Mill ) चाहते हैं कि व्यक्ति को अपने भिन्न विचार तक प्रगट करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। यद्यपि मिल माहव विचार के क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते हैं, किन्तु कार्य के क्षेत्र में वह ऐसा नहीं समझते हैं। उनका कहना है कि कार्य दो प्रकार के होते हैं—

व्यक्तिगत—अर्थात् वह कार्य जो प्रधानतया करने वाले स ही सम्बन्ध रखते हैं अन्य दूसरों से नहीं जैसे भोजन करना, प्रातः तड़के उठना, व्यायाम करना, साफ़ कपड़े पहिनना इत्यादि।

२—वह कार्य जो दूसरों से भी सम्बन्ध रखते हैं और जिनका प्रभाव केवल करनेवाले पर ही नहीं पड़ता है वगन् समाज के अन्य शक्तियों पर भी जैसे समाज में व्यवहार करने के तरीके। मिल माहव चाहते हैं कि जहाँ तक व्यक्तिगत कार्यों का सम्बन्ध है, प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये अर्थात् सरकार को व्यक्ति के भोजन, तब, व्यायाम इत्यादि में थोड़ा भी हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। केन्तु दूसरे से सम्बन्ध रखनेवाले कार्यों में व्यक्ति उसी अंश तक स्वतन्त्र रह सकता है जहाँ तक वह दूसरों की समान स्वतन्त्रता में कोई बाधा नहीं पहुँचाता है। अतः कोई भी पब्लिक सड़क पर पेशाब,

पाखाना इत्यादि नहीं कर सकता है क्योंकि उसके यह कार्य उसके पडोसी की समान स्वतन्त्रता में बाधा पहुँचायेंगे।

### प्राकृतिक दलील ( Biological argument )

कहा जाता है कि राज्य के कार्यक्षेत्र के प्रति व्यक्ति-आदी सिद्धान्त प्रकृति से संगत रहते हैं। प्रकृति में एक प्रकार का निरन्तर द्वन्द्व चला करता है, और केवल बड़ी जीव जीवित रह जाते हैं जो जीने योग्य होते हैं। जीवधारियों की प्रत्येक धोनि में सफल निर्वल का भक्षण करके अपनी रक्षा करने हैं। सबका जीवित रहना ( Survival of the fittest ) प्रकृति का सिद्धान्त है। बड़ी मछली छोटी मछली को अवश्य ही खा जायेगी और बड़े पेड़ पास के छोटे पौधों को अवश्य ही विनष्ट कर देंगे। यह ईश्वरीय नियम है और इसके पालन ही में संसार का कल्याण है। किन्तु यदि राज्य सम्पूर्ण समाज के हित साधन के कार्य करेगा तो वह प्रकृति के उक्त नियमों में दखल देगा और इस प्रकार अयोग्य व्यक्ति भी जीवित रह जायेंगे और फलतः समाज की अवनति हो जायगा। स्पेन्सर ( Spencer ) प्राकृतिक पौधे तथा राजनीतिक पौधे अर्थात् राज्य में एक विस्मृत समानता प्रदर्शित करता हुआ इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि राज्य का कर्तव्य है कि वह व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार कार्य करने के लिये छोड़ दे। स्पेन्सर ( Spencer ) ने अपने थियोलॉजिकल सिद्धान्तों का राजनीतिक वर्णन ( Social statics and men versus state ) सोशल स्टेटिक्स तथा मैन वर्सस स्टेट नामक पुस्तकों में किया है।

उसका कहना है कि प्रारम्भ में राज्य की भावना मनुष्य के स्वार्थ पूर्ण आत्मभाव से उत्पन्न हुई है। अतः राज्यरक्षक नहीं बरन् मानव समाज का भक्षक है। स्पेन्सर राज्य की बड़ी विकट आलोचना करता हुआ अन्त में कहता है, “क्या हमने यह प्रदर्शित नहीं कर दिया है कि सरकार आचरण भ्रष्ट होती है ? क्या इसका अस्तित्व इसलिये नहीं है कि संसार में जुर्म पाया जाता है, और क्या यह जुर्म के साथ ही विनष्ट नहीं हो जायगी, क्योंकि तब उसके लिये कार्यक्षेत्र ही क्या रहेगा ? यह एक भिन्ना धारणा है कि सरकार सदा बनी रहेगी। स्पेन्सर अपनी ‘सोशल स्टेटिक्स’ में व्यष्टि को यह सलाह देता है कि वह अपना सम्बन्ध राज्य में विच्छिन्न कर ले। व्यक्ति को एक ही अधिकार है—प्रत्येक व्यक्ति के साथ समान स्वतन्त्रता का अधिकार, और राज्य का एक ही कर्तव्य है—व्यष्टि के उक्त अधिकार को बचाने का कर्तव्य। स्पेन्सर स्वास्थ्य, व्यापार तथा निर्धन सहायता सम्बन्धी सभी कानूनों की अवहेलना करता है। वह राज्य द्वारा नियन्त्रित शिक्षा का आलोचना करते हुए कहता है, “किसी दूसरे के बच्चों या हमारे ही बच्चों को शिक्षित करने के अभिप्राय से हम से कर लेने की नीति हमारे अधिकारों की रक्षा के लिये आवश्यक नहीं है, अतः गलत है।” उसका कहना है कि “व्यक्ति का अधिकार है कि वह चाहे जिसको दया ले।” उसने चेचक इत्यादि के अनिवार्य टीके की तीक्ष्ण आलोचना की है। वह सरकार द्वारा असहायों की रक्षा तक का पूर्ण विरोधी था। उसने लिखा है कि राज्य की सहायता से निर्धनों व असहायों की तकलीफें दूर करने के प्रयत्न उन्हें वैसा

ही बना रहने को प्रोत्साहित करते हैं। यदि वे संसार महासमर में सैनिक की भाँति विरोधियों का सामना नहीं कर सकते हैं तो उन्हें नष्ट हो जाने दो। उनकी रक्षा करना दूसरों के प्रति अन्याय करना है। असहायों की सहायता में व्यय किया जाने वाला धन श्रमियों का उत्पादन की वृद्धि करने के लिये दिया जाया करे। स्पेन्सर ने सरकार द्वारा रेल व तार इत्यादि का प्रबन्ध किया जाना भी नहीं पसंद किया है। वह चाहता है कि सरकार व्यक्ति को सभी क्षेत्रों में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र छोड़ दे। वह परस्पर संघर्ष करता हुआ स्वयं आगे बढ़ेगा। निर्धन इस संघर्ष में विनष्ट होते जायेंगे और कालान्तर में समाज अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच जायेगा।

### ३—आर्थिक दलील (Economical arguments)

एटन स्मिथ (Adam Smith) तथा उसके समुदाय के अन्य अर्थशास्त्र वेत्ताओं ने यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया है कि आर्थिक क्षेत्र में भी व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार कार्य करने देने का ही सिद्धान्त सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त होगा। अपनी 'राष्ट्रों की सम्पत्ति' (Wealth of Nations) नामक पुस्तक में एटन स्मिथ लिखते हैं कि यदि व्यक्ति अपनी इच्छानुसार कार्य करने को स्वतन्त्र कर दिया जायेगा तो वह उन्हीं कार्यों को करने का प्रयास करेगा जिनमें वह अपने सर्वोत्तम हित समझता है। समाज या राज्य का सर्वोत्तम हित क्या है? वह तो केवल समाज के सभी व्यक्तियों के हितों का संग्रह मात्र है। अतः व्यक्तिगत हित-साधन से ही समाज का हित-साधन हो

सकेगा। इसलिये राष्ट्र की आर्थिक उन्नति के लिये भी व्यष्टिवाद के सिद्धान्तों का अनुकरण करना ही राज्य के लिये आवश्यक है। आगे चलकर एटन स्मिथ कहते हैं कि प्राइकों का व्यक्तिगत हित उन्हें वही वस्तुएँ भेगाने के लिये बाध्य करेगा जो समाज के लिये अत्यन्त लाभकारी होंगी और उत्पादकों के व्यक्तिगत हित उन्हें कम से कम लागत पर अधिक से अधिक आसिद्धी पैदा करने को बाध्य करेंगे। अविरल एवं समन्य प्रतिभेयिता आर्थिक-विज्ञान को पोषाहित करती है और माँग तथा देय (supply) का स्वतन्त्र खेल मजदूरी तथा मूल्य को प्राकृतिक दरा में बनाये रखते हैं। भूतकाल का अनुभव हमें यह बतलाता है कि खाना, कपड़ा, रेल, जहाज इत्यादि को नियंत्रित करनेवाले कानून सदा असफल रहे हैं और उनसे समाज को लाभ की अपेक्षा हानि गही है। अतः समाज की आर्थिक उन्नति की दृष्टि से, उसके व्यापार को स्वतन्त्र बढ़ावा देने के विचार से, राज्य को व्यष्टिवाद के सिद्धान्तों का ही अनुकरण करना चाहिये।

#### ४—राज्य की अयोग्यता की दलील ( The argument of state incompetence )

यह कल्पना कर लेना कि राज्य एक सर्वशक्तिमान विज्ञान है और वह कभी किसी काम में भी असफल नहीं हो सकता है, एक महान भ्रम एवं मिथ्या धारणा होगी। वास्तविकता यह है कि राज्य अपना कार्य अपने अफसरों द्वारा करता है जिनमें स्वभावतः अन्य मनुष्यों की तरह शक्ति का अभाव, त्रुटियाँ एवं ईर्ष्याद्वेष रहते हैं। अतः वे

ही बना रहने को प्रोत्साहित करते हैं। यदि वे संसार महासमर में सैनिक की भाँति विरोधियों का सामना नहीं कर सकते हैं तो उन्हें नष्ट हो जाने दो। उनकी रक्षा करना दूसरों के प्रति अन्याय करना है। असहायों की सहायता में व्यय किया जाने वाला धन श्रमियों का उत्पादन की वृद्धि करने के लिये दिया जाना कहे। स्पेन्सर ने सरकार द्वारा रेल व तार इत्यादि का प्रबन्ध किया जाना भी नहीं पसंद किया है। वह चाहता है कि सरकार व्यक्ति का सभी क्षेत्रों में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र छोड़ दे। वह परस्पर संघर्ष करता हुआ स्वयं आगे बढ़ेगा। निर्याल इस संघर्ष में विनष्ट होते जायेंगे और कालान्तर में समाज अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच जायेगा।

### ३—आर्थिक दलील (Economical arguments)

एटन स्मिथ (Adam Smith) तथा उसके समुदाय के अन्य अर्थशास्त्र वेत्ताओं ने यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया है कि आर्थिक क्षेत्र में भी व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार कार्य करने देना ही सिद्धान्त सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त होगा। अपनी 'राष्ट्रों की सम्पत्ति' (Wealth of Nations) नामक पुस्तक में एटन स्मिथ लिखते हैं कि यदि व्यक्ति अपनी इच्छानुसार कार्य करने को स्वतन्त्र कर दिया जायेगा तो वह उन्हीं कार्यों को करने का प्रयास करेगा जिनमें वह अपने सर्वोत्तम हित समझता है। समाज या राज्य का सर्वोत्तम हित क्या है? वह तो केवल समाज के सभी व्यक्तियों के हितों का संग्रह मात्र है। अतः व्यक्तिगत हित-साधन से ही समाज का हित-साधन हो

सकेगा। इसलिये राष्ट्र की आर्थिक उन्नति के लिये भी व्यष्टिवाद के सिद्धान्तों का अनुकरण करना ही राज्य के लिये आवश्यक है। आगे चलकर एटन स्मिथ कहते हैं कि आदमी का व्यक्तिगत हित उन्हें वही वस्तुएँ भँगाने के लिये बाध्य करेगा जो समाज के लिये अत्यन्त लाभकारी होंगी और उत्पादकों के व्यक्तिगत हित उन्हें कम से कम लागत पर अधिक से अधिक सामग्री पैदा करने को बाध्य करेंगे। अविरल एवं स्वतन्त्र प्रतियोगिता आर्थिक ज्ञान को प्रोत्साहित करती है और माँग तथा देय (supply) का स्वतन्त्र खेल मजदूरी तथा मूल्य को प्राकृतिक दरा में बनाये रखते हैं। भूतकाल का अनुभव हमें यह बतलाता है कि खाना, कपड़ा, रेल, जहाज इत्यादि को नियंत्रित करनेवाले बानून सदा असफल रहे हैं और उनसे समाज को लाभ की अपेक्षा हानि गही है। अतः समाज की आर्थिक उन्नति की दृष्टि से, उसके व्यापार को स्वतन्त्र बढ़ावा देने के विचार से, राज्य को व्यष्टिवाद के सिद्धान्तों का ही अनुकरण करना चाहिये।

#### ४—राज्य की अयोग्यता की दलील ( The argument of state incompetence )

यह कल्पना कर लेना कि राज्य एक सर्वशक्तिमान विज्ञान है और वह कभी किसी काम में भी असफल नहीं हो सकता है, एक महान् भ्रम एवं मिथ्या धारणा होगी। वास्तविकता यह है कि राज्य अपना कार्य अपने अफसरों द्वारा करता है जिनमें स्वभावतः अन्य मनुष्यों की तरह शक्ति का अभाव, त्रुटियाँ एवं ईर्ष्याद्वेष रहते हैं। अतः वं

अपने को किसी न किसी काम के करने में अवश्य ही असमर्थ पायेंगे, किसी को गलत कर डायेंगे और किसी का जान-बूझकर धिगाड़ डालेंगे। इसके सिवा राज्य के कार्य सम्पादन का तरीका अत्यन्त असाधारण तथा कठिन रहता है। अतः राज्य को उचित है कि वह केवल व्यक्तियों के कार्यों की आलोचना किया करे। जो राज्य के कार्य-क्षेत्र को बढ़ाने के उत्सुक हैं, जो कल व कारखानों पर राज्य का नियन्त्रण हितकर समझते हैं, वह वह भूल जाते हैं कि समाज के बहुत से कार्य व्यक्तिगत हित महसूस करनेवाले व्यक्तियों द्वारा स्वतन्त्रता पूर्वक किये जाने की अपेक्षा राज्य द्वारा कभी भी अच्छे नहीं किये जा सकते हैं। व्यक्ति का अपेक्षा राज्य प्रत्येक कार्य में अधिक व्यय करता है क्योंकि उसका निरीक्षण करनेवाले अफसरों का तो केवल उसके दिखावटी सम्पादन से ही प्रयोजन होता है। व्यक्ति प्रत्येक कार्य में अपनी जीविका द्विती सम्भार उसे थोड़े से थोड़े खर्च में अच्छे से अच्छे तरीके से जल्दी समाप्त करने का प्रयास करता है। किन्तु समाज के किसी भी कार्य में राज्य के अफसरों का व्यक्तिगत हित निहित नहीं रहता। उन्हें यह पूर्ण विश्वास रहता है कि अन्त में हानि हो या लाभ, हमें तो केवल योग्यता पूर्ण प्रदर्शन करके टुके मीचे करना है। इसके विपरीत व्यक्ति अपने कार्य का प्राणों की बाज़ी लगाकर तहेदिल से करता है। राज्य के कर्मचारी तथा अफसर चाहे जितने योग्य हों वह साधारण कार्यों में मितव्ययता की बात को स्वभावतः धृष्टता की दृष्टि से देखते हैं।

अतः व्यक्तिवादियों का कहना है कि मनुष्य की स्वतन्त्रता की दृष्टि से, उसके व्यक्तित्व के विकास के विचार से तथा समाज की आर्थिक

उन्नति के ध्येय से राज्य को अपना कार्य-क्षेत्र अत्यन्त संकुचित रखना चाहिये। यदि वह व्यक्ति के प्रति न्याय करना चाहता है, यदि उसका ध्येय मानव-समाज की भलाई है और यदि वह प्रकृति के नियमों को आदर मानता है, तो उसे चाहिये कि मनुष्य को अपनी इच्छानुसार कार्य करने दे।

## व्यष्टिवाद की आलोचना (Criticism of Individualism)

व्यष्टिवाद स्वतन्त्रता के गलत अर्थ लगाता है। उसे स्वतन्त्रता केवल वनधन के अभाव में ही दिखाई देती है। इसका कहना है कि राज्य अपने प्रत्येक कार्य में बाध करने की भावना द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता को संकुचित करता है। मिस्टर रिची (Ritchie) का कहना है कि “व्यष्टिवाद राज्य के कार्य व स्वतन्त्रता को एक बहीश्यांत के खर्च व जमा नामक खाते समझता है अतः पहिले में वृद्धि करना स्वभावतः दूसरे में कमी लाता है।” व्यष्टिवाद यह भूल जाता है कि यदि राज्य के कुछ कार्य हमें बाध करके हमारी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को कुछ धक्का पहुँचाते हैं, तो उसके बहुत से कार्य हमारी स्वतन्त्रता के क्षेत्र को बढ़ाते भी हैं। प्रायः यह देखा गया है कि बहुत से कार्यों को हम अज्ञानता अथवा आलस्य के कारण करना नहीं चाहते हैं और राज्य हमें उनके लिये बाध करके हमारी क्षणिक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करता है। किन्तु उनके द्वारा हमारी जो उन्नति होती है और जो विकास के अवसर बढ़ जाते हैं वही वास्तविक स्वतन्त्रता है और मिथ्या एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से अधिक महत्व रखती है। उदाहरणार्थ आज हम

आलस्य के कारण पढ़ने जाना नहीं चाहते हैं और राज्य अपनी अनिवार्य शिक्षा प्रणाली द्वारा हमें जाने के लिये बाध्य करके हमारी स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करता है; किन्तु यह सभी जानते हैं कि शिक्षा व्यक्ति को विकसित होने तथा उन्नति करने के अवसर अवसर प्रदान करती है। अतः राज्य के इस प्रकार के कार्य स्वतन्त्रता-विरोधी कहना मिथ्या भ्रम है। राज्य के वह बन्धन जो व्यक्ति की भावी उन्नति का स्पष्ट ध्येय रखते हों, उसी प्रकार माननीय होने चाहिये जिन प्रकार व्यक्ति अच्छे स्वास्थ्य की आशा में कटु जी दवा सहर्ष पी जाने को तैयार रहते हैं। किसी के बच्चे को राज्य की ओर से स्कूल भेजा जाना माँ बाप की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करना कहा जा सकता है; किन्तु यह कार्य उस बच्चे को शिक्षित करके उसकी स्वतन्त्रता को कहीं अधिक बढ़ा देता है। अतः सारांश यह है कि व्यक्तिवादी स्वतन्त्रता का नकारात्मक पहलू लेते हैं; किन्तु वास्तव में, सच्ची स्वतन्त्रता विच्छृंखलता तथा बन्धन के अभाव में नहीं है उसका सकारात्मक अर्थ है उन्नति एवं विकास के अवसर प्रदान करना।

व्यष्टिवाद व्यक्ति तथा समाज की, जिसमें व्यक्ति रहता है, एक पूर्ण तथा असम्भव धारणा रखता है। वह व्यक्ति की स्थिति सम्भवतः शून्य में समझता है और उसके दूसरे व्यक्तियों के प्रति सन्देह का कुछ भी ध्यान नहीं रखता है। व्यक्ति एक सामाजिक जीव है और वह अपने को समाज से कभी भी विलग नहीं कर सकता है अतः उसके विकास के लिये पूर्ण समाज के विकास की आवश्यकता है। यदि समाज के सभी व्यक्ति आर्थिक एवं मानसिक शक्तियों में समान होते, तो सम्भवतः व्यक्तिवाद के सिद्धान्तों का अनुकरण करना एक हितकर नीति हो

बकनी; किन्तु वर्तमान समाज में जहाँ प्रत्येक व्यक्ति में धन, विद्या एवं प्रभाव के महान् अन्तर विद्यमान हैं; व्यक्तियों को पूर्णतया स्वतन्त्र छोड़ देने का परिणाम इसके सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता कि निर्धन एवं निर्बल व्यक्तियों पर धनवान एवं बलवान अधिकार कर लें। वही कारण है जहाँ कहीं व्यष्टिवाद के सिद्धान्त कार्य में लाये गए, परिणाम अत्यन्त खेद जनक हुये। उन्नीसवीं शताब्दी में इंग्लैंड का भी वही हाल था।

यह कहना कि दीन दुखियों एवं असहायों की रक्षा करना, जीवन संग्राम के प्राकृतिक सिद्धान्त में हस्तक्षेप करना है, कोई तर्क-पूर्ण दलील नहीं है। ईश्वर ने मनुष्य को पशुओं की अपेक्षा बुद्धि तत्त्व अधिक प्रदान किया है उसने पशुता के ऊपर उठे रहने की आशा की जाती है। यह हमारी अध्यात्मिक आवश्यकता है कि हम पशुता के प्राकृतिक नियमों का उलंघन करें। अतः जैसा कि हन्सले (Hunsley) कहते हैं कि—“सभ्य समाज में मनुष्य ने जीवन संग्राम के निर्दय प्राकृतिक नियमों को प्राकृतिक समवेदना एवं अध्यात्मिक उत्थान के हित में त्याग दिया है।” अतः राज्य, जो कि एक पशु-संस्था नहीं बल्कि मानव-संस्था है, अपनी नीति निर्धारित करने में पशु जगत के नियमों से प्रभावित न किया जाय। मनुष्य में चलनेवाला जीवन संग्राम केवल जीवन के लिये नहीं बल्कि अच्छे जीवन के लिये है, अतः राज्य व्यष्टि का जीवन अच्छा बनाने के प्रयत्न करते समय पशुओं के प्राकृतिक नियमों का उलंघन कर सकता है।

यह कथन कि भूतकाल में सरकारों ने बड़ी-बड़ी गलतियाँ की हैं

अतः उसके कार्य क्षेत्र को विस्तृत करना एक मूर्खता की बात होगी, जो जन साधारण ( Masses ) के संकुचित अवलोकन पर अवलम्बित है क्योंकि ये राज्य की असंख्य सफलताओं पर दृष्टि न डाल कर उसके कभी-कभी हो जानेवाली असफलताओं को ही स्मरण रखने के आदी होते हैं। वास्तव में व्यक्ति भी उसी प्रकार, वरन् उससे अधिक, गलतियाँ करता है जिस प्रकार सरकार। किसी लेखक ने इस बात को स्पष्टरूप से याँ समझाया है कि “सरकार एक शीशे के घर में रहती है, अतः जो कुछ वह करती है और जहाँ कहीं वह थोड़ा भी असफल होती है, हमका तुरन्त दिखाई दे जाता है; किन्तु व्यक्ति तो ईंटों की दीवार के पीछे छिपा है, अतः उसका गलतियाँ कौन देख सकता है।”

ऐतिहासिक दृष्टि से भी व्यक्तिवाद के बहुत बुरे परिणाम रहे हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इङ्ग्लैंड तथा अन्य योरोपीय देशों में व्यक्तिवाद का बड़ा प्रभाव था, जिसके परिणाम में महान् कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गई थीं। राज्य ने व्यक्तिगत कार्या में हस्तक्षेप करना त्याग दिया था। फलतः लाभ के पीछे कारखानों के अन्धे मालिक बेचारे श्रमियों का, जो जीविका के लालच में काम पर जाने का बाध्य ही थे, अत्यन्त गन्दी जगहों में प्रतिदिन १२ से १५ घंटों तक निरन्तर जोतते थे। मजदूर परेशान हो रहे थे, बीमारियाँ फैल रही थीं और लोग भूखों मरने लगे थे। इन निर्दय परिणामों को देखकर सरकारों ने पुनः व्यक्तिवादी सिद्धान्तों का त्याग कर दिया और रक्षात्मक नियम बनाना प्रारम्भ कर दिये।

वर्तमानकाल में व्यष्टिवाद केवल सिद्धान्त रूप में ही रह गया है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सरकार की दखलन्दाजी बढ़ती जाती है। आज सरकारें जनता को शिक्षा, स्वास्थ्य साधन तथा अन्य प्रारम्भिक आवश्यकतायें ही नहीं प्रदान करती हैं, बल्कि वह यह भी निश्चित करती हैं कि उनके लिये कौन सा भोजन हितकर होगा और कौन उचित वैद्य है इत्यादि। आज नभी देशों में कारखानों—सम्बन्धी कानून तथा निर्धन-सहायक-योजनायें पाई जाती हैं। आज प्रत्येक देश में सरकार बेकारों को कार्य देने में अपनी दिलचस्पी बढ़ाती चली जाती है और बहुत से देशों में वह ऐसा न कर सकने पर बेकार व्यक्ति तथा उसके आश्रितों का पालन करती है। प्रत्येक देश में जनता का एक ऐसा समूह है जो चाहता है कि राज्य सम्पूर्ण भूमि तथा कारखानों पर अधिकार कर ले।

## राज्य के कार्य-क्षेत्र की सीमा क्या होनी चाहिये।

राज्य को क्या करना चाहिये और क्या नहीं, इस सम्बन्ध में कोई निश्चित सिद्धान्त दे सकता एक असम्भव बात है, क्योंकि मनुष्य को प्रभावित करनेवाली परिस्थितियाँ प्रतिदिन परिवर्तित हुआ करती हैं। इसलिये जो कार्य आज अच्छा है वही कल समय के विपरीत प्रतीत हो सकता है। हमको अपने आप से ये प्रश्न करने चाहिये कि किसी कार्य विशेष में सरकार का हस्तक्षेप सर्वसाधारण के हित में है या नहीं? सरकार द्वारा उसका किया जाना सफल होगा या नहीं? उससे बुराई की अपेक्षा अच्छाई होगी या नहीं? किसी कार्य विशेष का सरकार

के साथ म जाना उक्त प्रश्नों के उत्तर पर ही अवलम्बित रहना चाहिये । राज्य के कार्यक्षेत्र की सीमा का माप जन साधारण का हित है । इसको निश्चित करनेवाली सेवा इसी धारणा के अनुसार खींची जा सकती है ।

अन्त में हम इस परमाणु पर पहुँचते हैं कि व्यक्तिवाद में इतनी गम्भीर अपेक्षा ही है कि साधारणतया सरकार को हस्तक्षेप बचना चाहिये । जो कार्य व्यक्ति राज्य की अपेक्षा अच्छी तरह और कम व्यय पर कर सकता हो, उसमें सरकार के हस्तक्षेप का कोई कारण नहीं दिखाई देता है । व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा साधारण नियम होना चाहिये और उसमें सरकार का हस्तक्षेप आवश्यक अपवाद ( Exception ) होना चाहिये । हमें उसी हद तक व्यक्तिवाद के सिद्धान्त माननीय हैं, अधिक नहीं ।

---

# वर्तमान समाजवाद की उत्पत्ति

( Genesis of modern Socialism )

वर्तमान समाजवाद की प्रादुर्भूति के कई कारण हैं जिन में से निम्नलिखित मुख्य कहे जा सकते हैं—

१—उन्नीसवीं शताब्दी के व्यष्टि के प्रतिक्रिया—१९वीं शताब्दी के व्यष्टिवाद के व्यक्ति को मनचाहा कार्य करने की स्वतन्त्रता देने के सिद्धान्तों ने आर्थिक जगत में अत्यन्त निराशापूर्ण एवं दयनीय परिणामों को उत्पन्न कर दिया और उन्होंने यह पूर्णतया प्रदर्शित कर दिया कि व्यष्टिवादी सिद्धान्तों का अनुकरण करना समाज के लिये अत्यन्त हानिकारक एवं अवाञ्छनीय है। व्यष्टिवाद की असफलता प्रधानतः आर्थिक पक्ष में रही। किसी भी व्यक्ति से उस समय यह कहने में कोई तथ्य नहीं है कि तुम अपनी इच्छानुसार अपना काम चुन लो जब उसको अपना परिश्रम सब से अधिक दाम लगाने वाले के हाथ बेचने के लिये दूँगा चाहा नहीं है। जब व्यष्टिवादी सरकारों ने धनहीन मजदूरों के लिये गन्तावमक 'वाचून बानने' में अपना हाथ खींच लिया, तब वह स्वयं कारखाने गोलने में असमर्थ होने के कारण अपने परिश्रम को पूंजीपतियों के हाथ उनकी ही इच्छानुसार बेचने के लिये बाध्य होगी। कारखानों में अधिक समय तक काम करके थोड़ी मजदूरी पाने से उत्पन्न हुये अपार दुखों व व्यक्तित्व के विकास को अवरुद्ध करनेवाले परिणामों ने व्यष्टिवाद पर ख़तरनाक प्रभाव डाला। यह स्पष्ट हो गया कि यदि

साधारण जनता को टकों के गुलाम की सतह से ऊँचा उठाना है, तब सरकार को उनकी पहिले की तरह कारखानों के मामले में आवश्यक हस्तक्षेप करके स्वतन्त्र प्रतियोगिता से उत्पन्न होनेवाली बुराई से रक्षा करनी पड़ेगी। फलतः सरकार का ध्यान श्रमिकों की ओर आकर्षित किया गया और उनके हितों की रक्षा के लिये कारखानों सम्बन्धी धाराएँ ( Factory Laws ) रेलवे बोर्ड सम्बन्धी धाराएँ तथा अन्य बहुत सी धाराओं का निर्माण हुआ। अर्थशास्त्र तथा राजनीति के विद्वान व्यष्टिवाद की असफलता का अन्वेषण करने लगे। उनका ध्यान श्रमिकों की ओर गया और उनको बुरी तरह पिसते देखकर व्यष्टिवाद के दोष एवं श्रमिक-हित-उपायों पर ग्रन्थ लिखे जाने लगे। इस प्रकार व्यष्टिवाद के प्रति होने वाली प्रतिक्रिया ने वर्तमान समाजवाद के उत्थान में पर्याप्त सहायता की है।

**२—पूँजीपतियों को सम्पूर्ण लाभ लेने का अधिकार—**प्रायः लोगों के मन में यह प्रश्न पैदा हुआ कि जब किसी कारखाने के मालिक व मजदूर दोनों साथ २ काम करते हैं, तब मालिक को अकेले सम्पूर्ण लाभ हड़प कर जाने का क्या हक है। लोगों के मन में यह विचार निश्चित होता गया कि उत्पादित सामग्री के लाभ में, उत्पादन में सहायता करने वालों का समान हक होना चाहिये। प्रारम्भ में कारखाने के मालिक को लाभ का अधिकांश लेने का अधिकारी माना भी जा सकता था। क्योंकि उस समय वह कारखाने का पूरा प्रबन्ध करता था। किन्तु जब सारा कार्य निश्चित वेतन पानेवाले मैनेजरोँ द्वारा होने लगा है तब लाभ का सम्पूर्ण भाग निठल्ले मालिक को हड़प

कर जाने का क्या अधिकार है ? उनका यह उत्तर कि कारखाना हमारा और हमारे बाप दादों का है, लोगों को तर्क संगति न दिगवाई दिया अतः कुछ विद्वानों ने व्यक्ति के जायदाद सम्बन्धी अधिकार का खण्डन करना प्रारम्भ कर दिया । इस प्रकार के मौरूसी अधिकार को उचित न माननेवाली भावना समाजवाद को प्रोत्साहित करनेवाली दूसरी वस्तु है । कोई व्यक्ति किसी प्राकृतिक वस्तु का स्वामी क्यों समझा जाय । और उसमें परिश्रम करके सामाजिक उपयोगिता की वस्तुएँ उत्पादित करनेवाले उसके लाभ में समुचित भाग क्यों न पायें ? यह प्रश्न आज भी समाजवाद का आवश्यक अङ्ग है । लाभ की अनुचित व्यवस्था की बुनियादी बुराई को विनष्ट करने के लिये ही समाजवाद उत्पादन के समस्त साधन जैसे—भूमि, कल, कारखाने तथा विनिमय एवं वितरण के समस्त साधन जैसे रेल, तार, जहाज इत्यादि पर समाज ( सरकार ) का नियन्त्रण चाहता है ।

३.—मूल्य की प्रादुर्भूति करनेवाला समाज ही है—समाजवाद को प्रोत्साहित करने वाला यह तीसरा सिद्धान्त है । बहुत से ऐसे मूल्य हैं जो समाज द्वारा ही पूर्ण रूप से बनाये जाते हैं और कुछ ऐसे भी हैं जिनके निर्माण में समाज का विशेष भाग रहता है । यह एक साधारण बात है कि कोई भी पदार्थ तब तक कोई मूल्य नहीं रखता है जब तक उसकी मांग नहीं होती है और मांग करनेवाला समाज ही है । अतः लाभ का उत्पादक भी समाज ही है, क्योंकि लाभ लागत से अधिक मूल्य के सिवा और कुछ नहीं है । जिस वस्तु का निर्माता समाज है, उस पर अधिकार रखने तथा उसका उपभोग करने का अधिकार भी

समाज ही का होना चाहिये। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उत्पादन के सभी साधन, पूँजी, लाभ इत्यादि सभी वस्तुयें समाज के अधिकार में होनी चाहिये ताकि वह सभी प्रधान कारखानों व सामाजिक नौकरियाँ का नियन्त्रण करता हुआ उनका उपयोग समाज के हित में कर सके।

४—वर्तमान समाजवाद पर अन्तिम किन्तु सबसे अधिक प्रभाव डालनेवाली वस्तु कार्लमार्क्स के सोसियोइकोनामिक (Socioeconomic) सिद्धान्त थे—वास्तव में कार्लमार्क्स ही वर्तमान समाजवाद का जननदाता समझे जाते हैं। कार्लमार्क्स के विचार हमें उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'पूँजी' (Capital) तथा कम्युनिष्ट मैनिफेस्टो जिसे उन्होंने १८४८ में प्रकाशित कराया था, में मिलते हैं।

कार्लमार्क्स के सिद्धान्तों का हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं।

(क) लाभ का सिद्धान्त—मार्क्स का विश्वास था कि परिश्रम ही मूल्य का द्राय होता है। किसी वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन में किये गये परिश्रम से लगाया जाता है। किन्तु व्यक्ति का परिश्रम अकेले कोई मूल्य नहीं पैदा कर सकता है। क्योंकि वस्तु के निर्माण में यन्त्रों तथा कच्चे माल की भी आवश्यकता होती है। लेकिन वैज्ञानिक यंत्रों का मूल्य अत्यधिक होने के कारण वे केवल एक छोटे से पूँजीपति वर्ग के ही अधिकार में हैं। यह पूँजीपति निर्धन, श्रमिकों का श्रम मन चाहे भाव से खरीद कर यन्त्रों पर लगाते हैं। उसके फलस्वरूप वे वस्तुएँ तैयार लेती हैं जो कि मजदूरों की मजदूरी तथा कारखानों को

व्यवस्थित रखने में व्यय किये गये धन से कहीं अधिक मूल्य पर बेची जाती हैं। लागत एवं बिक्री का यही अन्तर, लाभ कइलाता है। इस कार लाभ की प्रादुर्भूति श्रमजीवी के परिश्रम से होती है किन्तु उसका पभोग पूँजीपति करते हैं। वास्तव में यह उस परिश्रम की अपज है जिसकी मजदूरी नहीं दी गई। कार्लमार्क्स का कहना है कि पूँजीवादी समाज, दास समाज ( Slave society ) से केवल नाम का अन्तर होता है। दास को अपने स्वामी के लिये विवश होकर परिश्रम करना होता था और आजकल के श्रमिकों को वही काम अपनी इच्छानुसार करना पड़ता है। इस इच्छा को वास्तव में अपनी इच्छा नहीं कहना चाहिये क्योंकि ये निर्धन मजदूर बहुमूल्य मशीनों खरीदने में असमर्थ होने के कारण अपनी जीविका के लिये पूँजीपतियों की गुलामी करने को बाध्य हैं। दूषित आर्थिक व्यवस्था उन्हें दासता स्वीकार करने के सिवा और कोई चारा नहीं छोड़ती है। इस प्रकार लाभ के सिद्धान्त से अनुचित, अस्वाभाविक एवं अमानुषिक साधित करता हुआ मार्क्स श्रमिकों को इसके लिये लड़ जाने को प्रोत्साहित करता है। वह पूँजीपतियों के इस अनुचित शोषण को विरुद्ध करने के लिये ही श्रमिकों की गति ( Prolarian Revolution ) चाहता है।

( ख ) इतिहास का भौतिक अर्थ—( Materialistic inter-relation of History )—मार्क्स का कहना है कि इतिहास की मुख्य घटनाओं का आधार सदा आर्थिक ही होता है। अर्थ उत्पादन की प्रत्येक नवीन व्यवस्था से सम्बन्ध रखती हुई एक राजनैतिक दशा की उत्पन्न हो जाती है। और वर्गों का निर्माण भी इसी प्रकार होता

है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ की औद्योगिक क्रान्ति द्वारा घटित आर्थिक परिवर्तनों ने एक छोटा पूँजीपति वर्ग पैदा कर दिया जिसके अधिकार में उत्पादन के सभी साधन थे और दूसरा एक बड़ा साधनहीन श्रमजीवी वर्ग। पूँजीपति चाहते हैं कि हमारी पूँजी दिन प्रति दिन बढ़ती जाय ताकि हम अन्य कारखाने खोल सकें और मज़दूर चाहते हैं कि हमें उचित मज़दूरी दी जाय। दोनों के हितों में ये बुनियादी विरोध वर्ग युद्ध का प्रादुर्भूति करता है। कार्ल मार्क्स इस युद्ध को एक अनिवार्य ऐतिहासिक घटना बताते हैं।

( ग ) पूँजी के केन्द्रित होने का नियम—मार्क्स अन्त में पूँजीवाद का पतन अनिवार्य बताते हैं। उनका कहना है कि औद्योगिक उत्थान के साथ-साथ उत्पादन के साधन बढ़ते जायेंगे। और पूँजी बड़ी से बड़ी तादाद में केन्द्रित होती जायगी। इस प्रकार छोटे-छोटे पूँजीपति श्रमजीवियों में परिणित होते जायेंगे। क्योंकि वे बड़े-बड़े पूँजीपतियों से प्रतियोगिता में समानता नहीं कर सकेंगे। दूसरी ओर श्रमजीवी वर्ग दिन प्रति दिन बढ़ता जायगा और धीरे-धीरे उसका संगठन भी अत्यन्त दृढ़ हो जायगा। जब यह दशा अपनी चरम सीमा पर पहुँच जायगी अर्थात्, जब जगत में केवल इने गिने ही पूँजीपति रह जायेंगे तब श्रमजीवी पूँजीवर्ग का विनाश करने को उठ खड़े होंगे और उनसे उत्पादन के साधन छीन लेंगे। श्रमजीवियों की विजय के साथ ही साथ सामाजिक व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन होंगे और कालान्तर में वर्ग भावना विलीन हो जायगी।

पूँजीवाद का स्वतः एवं अनिवार्य विनाश सिद्ध करनेवाला मार्क्स-

यन सिद्धान्त अत्यन्त प्रभावशाली है। इस सिद्धान्त ने प्रत्येक देश के श्रमिकों को संगठित होने के लिये अत्यन्त प्रोत्साहित किया है। मार्क्स के आकर्षण की कुंजी यह है कि वह अन्त में श्रमजीवियों की विजय एवं पूँजीपतियों का विनाश एक निश्चित ऐतिहासिक घटना बताता है। किन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या श्रमजीवियों की विजय (Proletarian Victory) वर्गयुद्ध द्वारा ही घटित हो सकती है। क्या यह सम्भव नहीं है कि वाञ्छित परिवर्तन शान्तिमय एवं वैधानिक सुधारों द्वारा प्राप्त कर लिये जाँय ? इन प्रश्नों के प्रति दिये गये विभिन्न उत्तरों ने समाजवादियों के विभिन्न समुदाय पैदा कर दिये हैं।

एक समुदाय, जिसके प्रवर्तकों में ब्रिटिश समाजवादी प्रधान हैं, विकासवादी हैं और वह मार्क्सियन सिद्धान्तों के भी विकासात्मक पहलू पर विशेष आशा रखता है। इस समुदाय का कहना है कि उन्नति का एकमात्र द्रव्य धीरे-धीरे होनेवाले सुधार हैं। अन्तिम परिणाम कभी भी अचानक नहीं घटित हो सकता है। वरन् वह तो सुधारों द्वारा किये गये छोटे-छोटे परिवर्तनों का योग होगा। किन्तु क्रान्तिकारी विचारवादियों की धारणा है कि वर्तमान समाज में पूँजीपतियों व श्रमजीवियों के बीच एक विशाल खाड़ी है जिस पर सुधारों द्वारा पुल बनाया जा सकता नितान्त असम्भव है। एक वर्ग के पास सब कुछ है ; दूसरे के पास कुछ नहीं है। श्रमिकों की वर्तमान दशा असह्य यातना एवं संताप का विषय भण्डार है, अतः इसको शीघ्रातिशीघ्र समाप्त कर देना ही एक वाञ्छित एवं अनुकरणीय

मार्ग होगा । श्रमिक सुधारों के अवसरों का इन्तजार नहीं कर सकते हैं, अतः उनको प्रत्येक कदम उस रास्ते पर रखना चाहिये जो पूर्ण सामाजिक परिवर्तन कर देनेवाली क्रांति की ओर जाता हो । समाजवादियों में इस बात में भी मतभेद है कि भावी समाज का संगठन कैसा होगा और उसमें राज्य का क्या स्थान होगा । इसी कारण विभिन्न समाजवादी समुदायों के विभिन्न सिद्धान्त हैं । उनमें से मुख्य यह हैं ( १ ) समष्टिवाद ( State Socialism or Collectivism ) ( २ ) वर्गवाद या कम्युनिष्टवाद ( Communism ) ( ३ ) अराजकतावाद ( Anarchism ) ( ४ ) व्यापार संघवाद ( Syndicalism ) ( ५ ) गिल्ड समाजवाद ( Guild Socialism )

---

## समष्टिवाद ( Colledivism of State Socialism )

इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिया के अनुसार समष्टिवाद “सिद्धान्तों का वह समूह है जो कि केन्द्रीभूत लोकतंत्रीय शक्ति के कार्यों द्वारा अर्थ के वर्तमान विभाजन में उत्तम विभाजन एवं वर्तमान उत्पादन में अधिक उत्पादन घटित करने का ध्येय रखता है।”

उक्त ध्येय प्राप्त करने के लिये समष्टिवादियों ने बहुत से सिद्धान्त निश्चित कर लिये हैं जिनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं ( अ ) उत्पादन के समस्त साधनों पर नै व्यक्तिगत अधिकार विनष्ट करके देश के प्रधान कारखाने समाज के निरीक्षण एवं नियंत्रण में लाये जायें। ( ब ) कारखाने व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से न चलाये जायें बरन् उनके खोलने का ध्येय देश की आवश्यकतायें पूरी करना हो। ( स ) व्यक्तिगत लाभ के लिये कार्य करने की भावना समाज सेवा की भावना में परिणित कर दी जाय।

उक्त ध्येय किन तरीकों से प्राप्त किये जा सकते हैं। समष्टिवादियों को अपनी शान्तिप्रियता पर अभिमान है। जिते उपायों को वे काम में लाना चाहते हैं वह पूर्णतया वैधानिक ढंगों और वह मर्यादा जिमके द्वारा वे इस कार्य को करना चाहते हैं वह हैं वर्तमान सरकार। वह कम्युनिस्टों की भाँति न तो क्रान्ति व श्रेणीयुद्ध को ही हितकर समझते हैं और न वर्तमान सरकार को विनष्ट ही करना चाहते हैं। वे एक

विशाल किन्तु वैधानिक आन्दोलन द्वारा धीरे धीरे जनता को प्रभावित करना चाहते हैं और उसके विचारों का प्रभाव सरकार पर डालकर साम्यवादी परिवर्तन करवा सकना सम्भव सम्भूत हैं। उनका कहना है कि समाज केवल धीरे-धीरे परिवर्तन होनेवाली सस्था है और प्रत्येक परिवर्तन अपने पहले के सामाजिक ढाँचे की प्रकृति से सम्बन्धित होना चाहिये। वर्तमान परिस्थिति ही भावी उन्नति का मार्ग तथा उसपर चलने की गति को निर्धारित करेगी। इस प्रकार इंग्लैंड के समष्टिवादियों ने नौकर शाही को अपने भावों से चुपचाप प्रभावित करने की कोशिश की है। उन्होंने कारखानों का सुव्यवस्थित करने के लिये सरकार के हस्तक्षेप की नीति पर पूरा जोर दिया है। समष्टिवादियों का कहना है कि जब साधारण जनसमाज की शिक्षा साम्यवादी प्रणाली के अनुसार पर्याप्त अंश में आगे बढ़ जायगी अर्थात् जब जनता साम्यवादी विचारों व उनकी अच्छाइयों से पूर्णतया परिचित हो जायगी, तब साम्यवादी दल पार्लियामेन्ट में बहुमत में पहुँच जायगा और अपनी सरकार बनायेगा जो कि शर्त: २ आवश्यक एवं वैधानिक सुधारों द्वारा वांछित परिवर्तन घटित कर देगी।

आवश्यक परिवर्तनों का कार्यक्रम पूर्ण हो जाने पर भी सरकार जनता के सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन को अत्यन्त शक्तिशाली नौकरशाही द्वारा नियंत्रित करेगी। किन्तु समष्टिवाद लोकतंत्री राज्य पूर्ण रूप से लोकतंत्री होगा। राज्य की लोकतंत्रीय व्यवस्था निम्न-लिखित दो उपायों से घटित की जायगी (१) सरकार के कार्य केन्द्रीय-शक्ति के हाथ से निकल कर स्थानीय शक्तियों के हाथ में बहुत बड़े

पमाने पर ले जाये जायेंगे ताकि जनता सरकार के कार्यों से एक प्रभाव-पूर्ण सम्बन्ध रख सके । सरकार की नीति यह होगी कि कोई भी काम जो स्थानीय संस्थाओं द्वारा किया जा सकता हो वह केन्द्रीय शक्ति के अधिकार में रक्खा जावेगा ।

( २ ) औद्योगिक आधार पर निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा बने हुये सहायक संघ केन्द्रीय सरकार के विभिन्न विभागों के साथ लगा दिये जायेंगे और इस प्रकार जनता के विभिन्न हितों को प्रतिनिधित्व दिया जायगा ।

समष्टिवादी सरकार की क्या नीति होगी ? इस सम्बन्ध में हम इंग्लैंड के मजदूर दल के “श्रम तथा नवीन सामाजिक व्यवस्था” नामक पत्रों में अनुमोदित उपायों को समष्टिवादियों के वर्तमान विचारों का आदर्श मान सकते हैं मजदूर दल ने निम्नलिखित प्रस्ताव रखे थे ।

( १ ) कम से कम राष्ट्र वेतन ( Minimum National wage ) निश्चित कर दिया जाय और उसको देने के लिये सम्पूर्ण देश बाध्य हो ।

( २ ) बड़े बड़े कारखाने राष्ट्रीय सम्पत्ति समझे जायें और उनका नियंत्रण लोक तंत्रीय हो ।

( ३ ) राष्ट्रीय अर्थ में एक कान्ति पैदा कर दी जाय और कारखानों का लाभ सर्वसाधारण के हित में व्यय किया जाय ।

प्रथम प्रस्ताव इस बात पर जोर देता है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके शारीरिक, मानसिक एवं अध्यात्मिक विकास के लिये पर्याप्त मजदूरी दी जाय । इस ध्येय को सामने रख कर सरकार का यह देखना भी

लक्ष्य होगा कि किसी भी कारखाने के मजदूर को सप्ताह में ४६ घंटों से अधिक काम न करना पड़े। वे बीमारी को दूर करना भी अपना एक प्रावश्यक कार्य समझे और किसी व्यक्ति की बेकारी के काल में उसका या उस पर निर्भर रहने वालों का पालन-पोषण करे। स्कूल छोड़ने की उम्र कम से कम सोलह वर्ष की करनी जाय।

दूसरा प्रस्ताव रेलवे, रमाने, कोयला इत्यादि मुख्य-मुख्य उद्योगों में शीतानिरीत्र राष्ट्रीयकरण चाहता है और इस प्रकार यह धीरे-धीरे पूँजीप्रथा को विनष्ट करने का ध्येय रखता है। राज्य कारखानों का प्रबन्ध नौकरशाही तरीकों को छोड़कर लोकतंत्रीय तरीकों में करेगा वहाँ तक कार्य को प्रभावित करने का सम्बन्ध है, कारखानों के प्रबन्ध तथा नियंत्रण में मजदूरों की आवाज पूर्णरूप से सुनी जायगी।

प्रश्न यह पैदा होता है कि समष्टिवादियों द्वारा निर्धारित ऐसी अनुपम आयोजनाओं के लिए धन कहाँ से आएगा? इसका उत्तर हमें तीसरे प्रस्ताव में मिलता है। इस सम्बन्ध में पहला काम यह होगा कि जनता की आमदनी तथा सार्वजनिक राजस्व की व्यवस्था कान्ति के साथ दुहराई जाय और फिर पुनः इस प्रकार निर्धारित किसे जायें कि माधारण राष्ट्रीय जीवन ( National Standard of Life ) व्यतीत कर सकनेवाले व्यक्तियों की आमदनी पर कुछ भी न पड़े। अतः वे निचली मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों की आमदनी पर हाथ भी नहीं लगाना चाहते हैं। कम आमदनी वालों पर कर का अनुपात बहुत थोड़ा होगा—यों समझिये कि उनसे एक पौंड में एक पैसे लिया जायगा परन्तु लम्बी आमदनी वालों पर यह अनुपात बहुत

ऊँचा उठ जायगा और इस प्रकार करोड़पतियों को एक पौंड में १६ शिलिंग तक देने पड़ेंगे । इस प्रकार कहने को तो लोग लखपती होंगे और बड़े-बड़े कारखानों का लाभ भी उठायेंगे किन्तु राज्य उस लाभ को छिपे तरीके से फिर उन्हीं मजदूरों के हाथ में जिनके परिश्रम से उसकी उत्पत्ति होती है, पहुँचा देगा । कर्ग की इस व्यवस्था द्वारा बड़े बड़े धनाढ्यों को धन जन साधारण पर व्यय करने के लिये खींच लिया जावेगा । साथ ही साथ राज्य के नियंत्रण में चलनेवाले कारखानों में भी लाभ होगा । इस प्रकार प्राप्त की गई धन की विशाल राश को राज्य राष्ट्रीय शिक्षा, राष्ट्रीय वेतन, सेवी तथा असहायों की आवश्यक सहायता, वैज्ञानिक आविष्कारों को प्रोत्साहन, देश के जीवन के आम रहन सहन ( Standard of life ) को उच्च बनाना, बेकारों का पालन-पोषण तथा उनकी बेकारी दूर करना इत्यादि कार्यों में व्यय करेगा ।

इस प्रकार यह साम्यवादी गिरोह जो समष्टिवाद दल के नाम से प्रसिद्ध है वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को अत्यन्त दूषित बतलाता है और उसके परिवर्तित किये जाने को अपार आवश्यकता भी समझता है किन्तु यह दल न तो श्रमजीवी क्रान्ति का ही पुजारी है और न अराजकता को ही हितकर समझता है । इसे तो वैधानिक परिवर्तनों द्वारा ही आवश्यक सुधार घटित कर देने की पूर्ण आशा है ।

## समष्टिवाद की आलोचना (Criticism of the Colledivism)

समष्टिवादियों की आलोचना करनेवाले कई समुदाय हैं । व्यष्टिवादी इस पर स्वतन्त्रा के अपहरण का अपराध लगाते हैं । उनका कहना है

कि समष्टिवाद जनता के व्यक्तिगत विकास को विनष्ट कर देगा। लोग अपने सभी कार्यों के लिये राज्य के भरोसे रहने के इतने ज्यादा आदी हो जायेंगे कि कभी भी किसी समस्या पर स्वयं विचार करने का साहस भी न कर सकेंगे। व्यक्ति एक मशीन का पुर्जा बन जायगा और यह पुर्जा केवल राज्य के हाथों द्वारा ही संचालित हो सकेगा। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का यह पूर्ण विनाश कहाँ तक अभीष्ट समझा जाना चाहिए ?

कम्युनिस्ट तथा व्यापार संघवादी ( Communists and Syndicalists ) इत्यादि साम्यवादियों के अतिवादी गिरोह समष्टिवादियों पर दूसरे पहलू से आक्रमण करते हैं। उनका कहना है कि समष्टिवाद केवल पूँजीवाद का दूसरा रूप है। यह पूँजीवादी ही हैं जो अपनी सत्ता में धुन लगाता देखकर साम्यवाद का आवरण ओढ़कर जनता का शोषण जारी रखना चाहते हैं। जब कभी श्रमजीवी किसी कारखाने के स्वामी को हड़ताल इत्यादि से परेशान कर लेंगे तब वह कारखाना समष्टिवादी सरकार पूँजीवादी मालिक को पूरा बदला चुका कर अपने हाथ में ले लेगी। फलतः पूँजीपति प्रबन्ध की दिक्कतों से छुटकारा पाकर श्रमिकों की कमाई आराम से खायेगा। रही उन कारखानों की बात जो सीधे सरकार के नियन्त्रण में होंगे वहाँ श्रमिकों को पूँजीपतियों की अपेक्षा नौकरशाही का कठिन सामना करना पड़ेगा। साथ ही साथ श्रमिकों के नेता ऊँचा राजनैतिक पद पाते ही अनुदार दल के खीमों को खिसक जाते हैं। राम्जेमेकडानल्ड इस बात का एक वर्तमान उदाहरण हैं संक्षेप में उनका कहना है कि समष्टिवादी

राजत्व काल में श्रमजीवियों की दशा वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था से कुछ भी बेहतर नहीं होगी क्योंकि यदि आज उनके ऊपर पूँजीपतियों का नियंत्रण है तो भविष्य में वह नौकरशाही के आधीन होंगे। यह कहना सच है कि नौकरशाही का उत्तरदायित्व उस धारा सभा पर होगा जिसमें श्रमिकों के प्रतिनिधियों का बहुमत होगा, किन्तु धारा सभा श्रमिकों को केवल नौकरशाही के बड़े-बड़े अत्याचारों से ही बचा सकेगी। उनकी दिन प्रतिदिन के अत्याचारों से कौन रक्षा करेगा ?

फासिस्टों का कहना है कि समष्टिवादी सरकार उत्पादन के बड़े-बड़े साधन अपने हाथ में लेकर राष्ट्र के आर्थिक उत्थान में बड़ी रुकावट डाल देगी। वह धनवान व्यक्तियों पर जो केवल राज्य के ट्रस्टी हैं अनुचित कर लगाकर उनके धन का अपहरण करना चाहेगी। अपना धन कोई आसानी से नहीं दे देता है ; अतः श्रेणी युद्ध उत्पन्न हो जायगा जिससे राज्य को अपार हानि पहुँचेगी। धन का अपहरण होते देख लोग उसे अपनी विलासिता के लिये दानों हाथों से उलीचना प्रारम्भ कर देंगे और इस प्रकार मितव्ययता के गुण का विनाश हो जायगा।

जब सारा कार्य राजनैतिक कर्मचारियों द्वारा होगा, तब राजनैतिक संस्थाओं में भ्रष्टा प्रवेश कर लेगी। कर्मचारी प्रत्येक कार्य में अपनी जेब भरने की फिक्र करने लगेंगे।

समष्टिवाद की आलोचना करते हुए रसेल ( Russell ) अपनी 'स्वतंत्रता के पथ पर' ( Road to freedom ) नामक पुस्तक में

कहता है कि “केवल बड़ी काम काम समझे जायेंगे जो अपने को सरकार में सम्बन्धित कर सकेंगे।” साम्यवाद के विरुद्ध पुस्तकें लिखना या उस सरकार की आलोचना करना काम नहीं समझा जायगा। विचार की कोई भी नवीन भाग माननीय नहीं होगी, यदि वह समष्टिवादियों के विचारों से समत नहीं रखी होगी।

## कम्युनिस्टवाद ( Communism )

साधारणतया कम्युनिज्म शब्द अस्पष्ट रूप से प्रयोग किया जाता है । जनसाधारण स्टेट सोशलिज्म एवं कम्युनिस्टवाद को एक ही वस्तु समझते हैं, किन्तु यह शब्द अपने खास तथा वैज्ञानिक भाव में वह अर्थ रखता है जो उसे मार्क्स तथा एन्जिल्स ने १८४७ के अपने कम्युनिस्ट मेनोफेस्टो में दिया था । उस अर्थ में कम्युनिस्टवाद वस्तुतः वह सिद्धान्त है जो उन उपायों का वर्णन करता है जिनके द्वारा विश्व से पूँजीवादियों की सत्ता का विनाश किया जायगा । दूसरे शब्दों में कम्युनिस्टवाद का मुख्य सिद्धान्त श्रेणीयुद्ध कराना है । इस सिद्धान्त के प्रवर्तकों का विश्वास है कि केवल क्रान्ति द्वारा ही शक्ति पूँजीपतियों के हाथ से श्रमिकों के हाथ में लाई जा सकती है ।

मार्क्स का विश्वास है कि पूँजीवाद के प्रभुत्व का अन्त उसकी प्रकृति में छिपे हुए दोष का ही परिणाम होगा । पूँजीवाद का जीवन लाभ की व्यवस्था पर निर्भर है । लाभ की भावना उन्हें श्रमिकों का शोषण करने को बाध्य करती है, अतः पूँजीवादी अपने इस कार्य द्वारा एक ऐसा जागृत श्रमजीवी वर्ग उत्पन्न कर देंगे जो कि अपने को इस प्रकार संगठित करेगा कि एक दिन वह उस पूँजीवाद पर, जिसके द्वारा उसकी होगी, अवश्य विजय प्राप्त करेगा । पूँजीवाद का स्वभाव अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारना है । यह निजी विरोध उसके विनाश का प्रधान

कारण होगा। दूसरे वर्तमान पूँजीप्रथा के अनुसार उत्पादन तो बढ़ता ही जायगा। किन्तु उसकी खपत करनेवालों (Consumers) के पास परियाप्त धन न होगा कि वे उसका उपभोग कर सकें और इस प्रकार उत्पादन (Production) और खपत (Consumption) में फ़ासला बढ़ जायगा। पूँजीवादी अपने माल की अपने ही देश में खपत न देख कर, अन्य देशों में नये-नये बाज़ार ढूँढना शुरू करेंगे। इस प्रकार उत्पादन की वृद्धि के साथ-साथ विदेशी बाज़ारों के लिये होने वाली प्रतियोगिता उग्र-रूप धारण करता जावेगी। फलतः पूँजीवाद साम्राज्यवाद में परिणित हो जायगा। साम्राज्यवाद अपनी चरम सीमा पर पहुँचकर विश्व-व्यापी महायुद्ध में अन्त होगा। इस विश्व-क्रान्ति में श्रमजीवी वर्ग जा कि पूँजी-वर्ग के प्रसार से प्रतिदिन बढ़ता जायगा, अपनी संख्या के आधिक्य के बल से विश्व के लघुसंख्यक पूँजीवादी दल पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेगा। यह पूँजीवाद का निजी विरोध है। कम्युनिस्टों की यह धारणा है कि पूँजीवाद ज्यों-ज्यों विश्व-व्यापी होता जायगा, वैसे वैसे छोटे पूँजीपति श्रमिकवर्ग में परिणित होते जायँगे और इस प्रकार अन्त में केवल इने गिने पूँजीपति रह जायँगे।

गत योरोपीय महायुद्ध की घटनाएँ कम्युनिस्टों को मार्क्सियन धारणा को पूरा करती हुई दिखाई दीं। वास्तव में महायुद्ध का आधार आर्थिक ही था। लेनिन का कहना है कि महायुद्ध इस बात को प्रदर्शित करता है कि पूँजीवाद अपने अन्तिम शिखर के निकट है। जब वह अपनी अन्तिम सीमा पर पहुँच जावेगा अर्थात् जब सम्पूर्ण विश्व पूँजीवादी राष्ट्रों में विभाजित हो जायगा और उनका अपना माल खपाने के लिये

नये बाजार न मिलेंगे, तब पूँजीवाद आपस में टकरायेंगे और इस स्वतः विरोध के अवसर पर श्रमजीवी वर्ग क्रान्ति कर देगा और उस शोषकवर्ग को विनष्ट कर अपनी सत्ता स्थापित करेगा। श्रमजीवियों का ऐसा उत्थान इतिहास की कोई नई घटना न होगी। इतिहास में इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं कि वर्ग अपनी चरमसीमा पर पहुँचकर अवश्य विनष्ट होता है। तालुकेदारी ( Feudalism ) को मध्यम वर्ग ने इसी तरह विनष्ट किया था। अन्तर केवल इतना होगा कि अभी तक एक वर्ग ने दूसरे वर्ग की प्रभुता को विनष्ट कर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। किन्तु श्रमिकों की क्रान्ति ( Proletarian Revolution ) श्रेणीभेद को विनष्ट कर देगी। इसका परिणाम विश्वशांति एवं मानव समाज का उत्थान होगा। अतः कम्युनिस्टों की लड़ाई यद्यपि एक ही वर्ग को लड़ना पड़ेगी किन्तु उसकी विजय में सम्पूर्ण मानव जाति का हित होगा।

कम्युनिस्टों द्वारा चाही गई व्यवस्था क्रान्ति के बहुत वर्गों के बाद देखने को मिलेगी। श्रमजीवी-क्रान्ति के दो स्पष्ट भाग हैं—( १ ) क्रान्ति का ज़माना और प्रतिक्रिया विरोधार्थ श्रमिक तानाशाही। ( २ ) वह वर्गहीन व्यवस्था जिसमें सर्वशक्तिमान राज्य ( Sovereign state ) का विनाश हो जायगा और व्यवस्था स्वतन्त्र संघों द्वारा स्थापित की जायगी।

( १ ) क्रान्ति का ज़माना—कम्युनिस्टों का कहना है कि श्रमजीवियों की विजय के बाद भी पूँजीपतियों की प्रतिक्रिया का भय रहेगा और श्रमिकवर्ग को उस परिस्थिति का सामना करने के लिये तैयार रहना

पड़ेगा । अतः क्रान्ति के बाद श्रमिकवर्ग अपनी तानाशाही सरकार खड़ी करेगा और पूँजीवाद का विरोध करने के लिये हथियार तथा कठोर कारागार का प्रयोग किया जायगा । अतः कम्युनिस्ट वर्गविरोधी होते हुए भी पूँजीवाद की प्रतिक्रिया का सामना करने के अभिप्राय से कुछ काल के लिये श्रमिक वर्ग का शक्तिशाली राज्य स्थापित करना अत्यन्त-शक्य समझते हैं । कम्युनिस्टों की यह तानाशाही सरकार अत्यन्त निर्दय, कठिन नियन्त्रण वाली तथा सर्वशक्तिमान होगी और इसमें अन्य वर्गों को प्रतिनिधित्व ( Representation ) नहीं दिया जायगा ।

( २ ) क्रान्ति के बाद—पूँजीवाद की प्रतिक्रिया को दबाने में इस श्रमिक तानाशाही को जितनी सफलता मिलती जायगी, इसका अन्त भी उतना ही निकट आता जायगा क्योंकि कम्युनिस्ट, यह एक वर्गीय तानाशाही केवल विरोधी दल की प्रतिक्रिया को रोकने के लिये ही स्थापित करेंगे । जब यह तानाशाही वर्ग-व्यवस्था को मिटाने का कार्य कर लेगी तब यह अपना नियन्त्रण धीरे-धीरे हटा लेगी । लेनिन के कथनानुसार जब पूँजीवर्ग का विनाश हो जायगा तब श्रमिक सरकार विनष्ट कर दी जायगी और पूर्ण स्वतन्त्रता का विकास होगा ।

यह मार्क्स के सिद्धान्तों का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन है । इन सिद्धान्तों को वर्तमान कम्युनिस्टों ने पर्याप्त रूप से परिवर्धित किया है और रूस के बोलशेविकों ने इसे एक वास्तविक रूप दिया है । रूस की १९१७ की सफल क्रान्ति के बाद यहाँ श्रमिक तानाशाही स्थापित हुई जिसने मार्क्स के सिद्धान्तों का मूलभाव न त्याग कर उनको वास्तविकता के क्षेत्र में लाने के लिये एक ऐसी मोड़ दी कि सारे

सिद्धान्त एक विचित्र रंग में रंग गये हैं। वह मुख्य-मुख्य स्थान जहाँ पर बोलशेविकों ने मार्क्सियन सिद्धान्तों को परिवर्तित किया है यह हैं ( अ ) उन उपायों में जिनके द्वारा श्रमिक तानाशाही पूँजीवाद की प्रतिक्रिया का सामना कर सकी। ( व ) राज्य को विनष्ट करके स्वतन्त्र संघ स्थापित करने की धारणा में। ( स ) आर्थिक नीति में। ( द ) विश्व के अन्य देशों में पूँजी प्रथा के विनाश के सम्बन्ध में।

( अ ) पूँजीपतियों की प्रतिक्रिया का सामना करने के लिये मार्क्सियन सिद्धान्त हथियार प्रयोग करने का उपाय बताते हैं, किन्तु रूस के बोलशेविकों ने उनकी प्रतिक्रिया को रोकने के लिये निम्नलिखित उपायों से काम लिया है।

( १ ) वह सभी व्यक्ति जिनका सम्बन्ध पूँजीवर्ग से रहा है, न तो वोट देने के अधिकारी रखे गये और न उन्हें कभी कोई ओहदा दिया गया। इस प्रकार रूस ने अपने लाभ के लिये श्रमिक नौकर रखने वालों, बिना परिश्रम किये उत्पादित धन पर आराम से जीवन-यापन करने वालों बड़े-बड़े मिल मालिकों, पादरियों व शाही पुलिस के अफसरों इत्यादि का राजनीतिक बहिष्कार कर दिया है, वे न वोट दे सकते हैं न कहीं चुनाव लड़ सकते हैं, और न कोई जगह पा सकते हैं।

( २ ) पूँजीपतियों को हाथ का काम करने को बाध्य किया गया है, यदि वह काम करने में इनकार करते हैं तो उनका काम बढ़ा दिया जाता है और भोजन इत्यादि कम कर दिया जाता है।

( ३ ) बोलने व छापने की पूर्णस्वतन्त्रता नहीं रही है और इस प्रकार कम्युनिस्टवाद के विरुद्ध कुलु लिखना व कहना अपराध समझा जाता है ।

( ४ ) पूँजीपतियों के बच्चों को कम्युनिस्टिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गई है । इस प्रकार देश के भावी नागरिक पूँजीवादियों की सन्तान होते हुए भी कम्युनिस्ट बनावे जा रहे हैं । रूस को यह आशा है कि इस प्रकार एक दिन सम्पूर्ण रूस कम्युनिस्ट हो जायगा ।

( ५ ) कम्युनिस्टवाद की प्राचीन सिद्धान्तिक धारणा यह थी कि परिवर्तन का कार्य समाप्त हो जाने के बाद समाज में राज्य-व्यवस्था हट जायगी और इसका संगठन स्वतन्त्र संघों के रूप में होगा । किन्तु रूस के बोलशेविक अपने को अराजकतावादी नहीं कहते हैं । राज्य केवल वर्तमान भाव में नहीं रहेंगे । लेनिन कहते हैं कि आजकल के राज्य किसी वर्ग विशेष का शोषण करने के लिये प्रौजी संगठन है ।” इस प्रकार के राज्य नष्ट हो जायेंगे, किन्तु व्यक्तियों के ऊपर नियंत्रण रखने के लिये शक्तिशाली राज्य ( Sovereign state ) तब भी रहेंगे जब बोलशेविक वर्ग विजय कर लेंगे । यह मार्क्सियन धारणा में सबसे बड़ा परिवर्तन है ।

( ६ ) अपनी आर्थिकनीति में भी बोलशेविकों को प्राचीन कम्युनिस्टिक धारणा से हटना पड़ा है । उदाहरणार्थ मार्क्स का सिद्धान्त था कि व्यक्ति को उसके अनुसार नहीं बरन् आवश्यकतानुसार काम मिलेगा । किन्तु आज रूस में लोगों के काम की विशेषताओं का ख्याल

रखा जाता है। रूस के बोलशेविकों को अपने देश के सम्पूर्ण कारखानों, व्यापार इत्यादि पर पूर्ण अधिकार कर लेने के विचार को भी मुलायम करना पड़ा है। वहाँ छोटे-छोटे कारखानों व कृषि पर व्यक्ति का अधिकार स्वीकार किया जाता है। चतुर तथा मूर्ख कर्मचारियों के वेतन में भी अन्तर रहता है।

( द ) मार्क्स का यह कहना था कि अपने आप एक समय ऐसा आयेगा जब संसार के सभी श्रमजीवी एक साथ क्रान्ति कर देंगे। बोलशेविकों को यह विश्वास नहीं रहा है। अतः वे इस सम्बन्ध में बड़े आन्दोलन की आवश्यकता समझते हैं। रूस ने अपने मिद्धान्तां का प्रचार करने के लिये परतन्त्र देशों में अपने आदमी भी भेजना प्रारम्भ किये थे किन्तु इस समय यह प्रतीत होता है कि रूस ने अपनी इस नीति में परिवर्तन कर दिया है।

कम्युनिस्टवाद का भविष्य क्या होगा, इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है किन्तु इतना अवश्य ही सत्य है कि बोलशेविज्म द्वारा किये गये परिवर्तनों ने इसे सम्भव बना दिया है और पद-दलित एवं पराधीन देशों में इसके प्रचार की बहुत बड़ी सम्भावना है।

## कम्युनिस्टवाद की आलोचना

कम्युनिस्टवाद क्रान्ति का समर्थक है। यह भावना वर्तमान व्यवस्था के प्रति अश्वैर्य एवं वैधानिक सुधारों में अविश्वास प्रदर्शित करती है। इसका विश्वास है कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था इतनी

गन्दी तथा सड़ी हुई है कि इसका सुधार विश्वव्यापी क्रान्ति के सिवा और किसी तरह नहीं हो सकता है। कम्युनिस्टवाद का यह विश्वास है कि क्रान्ति के बाद समाज की व्यवस्था अत्यन्त सुधरी हुई तथा सर्व-प्रिय निकलेगी, कुछ तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है। कौन जान सकता है कि विश्वव्यापी घोर क्रान्ति की प्रज्वलित भट्टी से जिसमें समाज एक द्रवित पदार्थ की भाँति अनिश्चित दिशा में होगा, निकल कर कैसा रूप धारण करेगा। यह भी सम्भव हो सकता है कि श्रमिकवर्ग पराजित कर दिया जाय और पूँजीवर्ग की सत्ता अधिक बढ़ जाय। यह भी सम्भव हो सकता है कि समाज का रूप क्रान्ति को प्रोत्साहित करनेवालों की धारणा के विरुद्ध निकले। श्रमिकों की विजय होने पर भी शक्ति ऐसे व्यक्तियों के हाथ में जा सकती है जो क्रान्ति के नेताओं के विपरीत धारणायें रखते हों। शक्तिशालीवर्ग स्वार्थी हो सकता है और वह समाज के हित का ध्यान न रखकर अपनी सत्ता बढ़ाने एवं अपने हित साधनों में तत्पर हो सकता है। भूत की क्रान्तियों का अनुभव हमें यही बताता है। यह व्यर्थ की आशा है कि क्रान्ति को एक निश्चित नीति द्वारा पार लगाया जा सकता है। क्रान्ति का करना सदा अंधेरे में ढूँढ़ने के समान है। अतः सामाजिक व्यवस्था परिवर्तित करने के लिये कम्युनिस्टवाद के क्रान्तिकारी तरीके समाज के हित में अच्छे भी हो सकते हैं और नहीं भी। क्रान्ति का परिणाम अनिश्चित है। मैं स्वयं कम्युनिस्टवाद का विरोधी नहीं हूँ क्योंकि मैं यह समझता हूँ कि माकम के इन शब्दों में कि—“ऐ श्रमजीवियों ! उठो, चलो, आगे बढ़ो, शत्रु के पास सारा संसार है तुम्हारे पास केवल बेड़ियाँ हैं। यदि जीतोगे

तो संसार पावोगे और यदि हारोगे तो शत्रु तुम्हें जकड़ने वाली जंजीरें छीन ले जायेंगे” बहुत कुछ सत्यता है, तो श्रमजीवियों के सामने हार जीत का प्रश्न ही नहीं रह जाता है ।

## अराजकवाद ( Anarchism )

हम लोगों ने देख लिया है कि मजदूरों की विश्वव्यापी क्रान्ति के बाद संसार की सामाजिक व्यवस्था परिवर्तित करने के लिये शक्ति मजदूर-वर्ग के हाथ में रहेगी। इस सम्बन्ध में कुछ लोगों का कहना है कि आवश्यक परिचर्तन घटित हो जाने के अनन्तर राज्य-व्यवस्था विनष्ट हो जायगी और सम्पूर्ण समाज में स्वतन्त्र संगठन का एक नवीन युग प्रारंभ होगा। अराजकवाद समाज के उक्त स्वतन्त्र संगठन के सिद्धान्तों का प्रतिपादक एवं समर्थक है। जगत-विख्यात अराजकवादी नेता क्रोपाटकिन का कहना है कि अराजकवाद, “ जीवन एवं आचरण का वह सिद्धान्त है जिसके अन्तर्गत सरकार रहित समाज की कल्पना की जाती है; शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित की जायगी.....शक्तिशाली सरकार के कानूनों द्वारा नहीं, बरन् विभिन्न स्वतन्त्र समुदायों के स्वतन्त्र समझौतों द्वारा” ।

वर्तमान राज्य-व्यवस्था किस प्रकार विनष्ट की जायगी एवं समाज संगठन के योग्य किस प्रकार बनाया जायगा ? इत्यादि प्रश्नों के प्रति अराजकवाद को कुछ भी नहीं कहना है। उक्त प्रश्न तो कम्युनिस्टवाद को हल करना है। जैसा कि पिछले अध्याय में बतलाया जा चुका है कि कम्युनिस्टवाद श्रेणीयुद्ध द्वारा पहिले श्रमिक-वर्ग की तनाशाही स्थापित करने की आशा करता है। जब श्रमजीवी-वर्ग का शक्तिशाली

शासन क्रान्तिकारी परिवर्तनों द्वारा समाज को स्वतन्त्र संगठन के योग्य बना देगा, तब वह वर्ग स्वयं अपना शासन स्थापित कर देगा क्योंकि फिर उसकी कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी और इस प्रकार अराजकवाद का ज़माना आ जायगा। अतः राज्य व्यवस्था विनष्ट कर समाज को अराजक पर लाना वर्गवाद या कम्युनिस्टवाद का काम है और राज्य-बिहीन स्वतन्त्र समाज की व्यवस्था पर विचार करना अराजकवाद का काम है। स्मरण रहे कि कम्युनिस्टवाद और अराजकवाद दोनों मिलकर एक पूरी वस्तु बनाते हैं; पहिली धारणा का काम है पूंजीवाद को विनष्ट करने के उपायों पर विचार करना और दूसरी का स्वतन्त्र समाज की स्वतन्त्र व्यवस्था की कल्पना करना। किन्तु अराजकवाद केवल एक कल्पना जगत की सृष्टि नहीं करता है; इसकी प्रादुर्भूति का कारण वर्तमान समाज की अत्यन्त अनुचित व्यवस्थाकी प्रति क्रिया है और इसके सिद्धान्त वर्तमान भुकावों की वैज्ञानिक आलोचना से निकले हैं। हम आज समाज में विभिन्न प्रकार की बढ़ती हुई संस्यायें पाते हैं। हम यह भी देखते हैं कि जीवन की कुछ आवश्यकतायें जैसे मङ्कें, पानी, पार्क इत्यादि सर्वसाधारण के स्वतन्त्र प्रयोग के लिये, केवल जनता की भलाई के विचार से, उपस्थित की जा सकी हैं। अतः अराजकवादी यह आशा करते हैं कि ऐसी भावनाओं का विकास एक दिन ऐसा लायेगा कि जब मनुष्य के जीवन में सम्बन्ध रखनेवाली सभी आवश्यक वस्तुएँ जनता को स्वतन्त्र प्रयोग करने को मिल सकेंगी। इस बात पर संदेह अवश्य किया जा सकता है कि क्या अराजकवाद अपने उस ऊँचे ध्येय पर विकास द्वारा पहुँच

सकेगा ? अभी तक संसार के किसी भी राष्ट्र ने इसके सिद्धान्तों को कार्यान्वित करके नहीं दिखाया है । अतः यह भी संदेह अवश्य किया जा सकता है कि यह राजनैतिक धारणा सदा कल्पना जगत में ही निवास करती रहे । अतः अराजकवाद पर लिखी गई निम्न पंक्तियाँ केवल उसका सिद्धान्तिक विवेचन हैं ।

अराजकवादियों का दावा यह है कि संसार के इतिहास केवल अराजकता काल ही एक ऐसा ज़माना लायेगा जब प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्रता का वास्तविक अनुभव कर सकेगा और तभी व्यक्ति के व्यक्तित्व को पूर्ण विकास का अवसर प्राप्त हो सकेगा । वर्तमानकाल में व्यक्ति क्रम से तीन प्रकार के बन्धनों से जकड़ा पड़ा रहता है ।

१—**पूँजीवाद का बन्धन**—पूँजीप्रथा के कारण कोई भी व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र नहीं है । कुछ इनेगिने तो अपनी पूँजी की रक्षा एवं वृद्धि की चिन्ता में फँसे हुये हैं । और शेष जनता जीविकोपार्जन की कशमकश में उलझ रही है ।

२—**राज्य के बन्धन**—सरकार के नियमों का पालन करना अनिवार्य है । इस व्यर्थ बन्धन के कारण मनुष्य को प्रायः अपनी इच्छा के विरुद्ध आचरण करना पड़ता है ।

३—**धर्म के बन्धन**—अराजकतावादियों की दृष्टि में जीवन के प्रत्येक अंग को जकड़ने वाले धार्मिक नियमों का पालन करना मिथ्या-डम्बर है और मनुष्य की स्वतन्त्रता में बाधा डालता है । अतः उनका विश्वास है कि विश्व-इतिहास की सभी व्यवस्थाओं के अन्तर्गत सभी परिस्थिति के व्यक्ति उक्त बन्धनों से जकड़े रहे हैं और रहेंगे ।

## राज्य तथा सरकार की आलोचना

अराजकवादियों का कहना है कि राज्य की स्थापना करना केवल व्यर्थ ही नहीं बरन् अत्यन्त हानिकारक रही है। संसार से राज्य-व्यवस्था हटते ही सशस्त्र सेना की व्यवस्था भी हट जायगी और एक देश का दूसरे देश पर आक्रमण करने का प्रश्न ही नहीं रह जायगा। सरकार का सब से बड़ा काम देश की शत्रुओं से रक्षा करना कहा जाता है। किन्तु यह प्रश्न तो राज्य-व्यवस्था के साथ ही उत्पन्न होता है और व्यवस्था के विनाश के साथ ही विनष्ट हो जायगा। रही जनता की जान माल की चोर डाकुओं से रक्षा करने की बात, इसके लिए नागरिकों के स्वतन्त्रसंघ पर्याप्त होंगे। अपराधों को दबाकर व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा करना वर्तमान सरकार का एक बड़ा कार्य समझा जाता है। किन्तु अराजकवादियों का कहना है कि सरकारें अपराध को दबाने की अपेक्षा उसे प्रोत्साहन अधिक देती हैं। वे स्वयं मनुष्य को अपराध करना सिखाती हैं। और अपनी दूषित आर्थिक व्यवस्था के कारण उन्हें अपराध करने पर बाध्य करती हैं। जब आदमी यह देखता है कि एक तरफ धन अनुचित रूप से इकट्ठा है और दूसरी तरफ उसे भोजन व उचित काम मिलने के भी लाले पड़े हैं तब वह चोरी या डाकाजनी की ओर गिर जाता है सरकार इस प्रकार व्यक्ति को एकबार दुष्ट प्रकृति का बनाकर उसकी इस प्रकृति को छुड़ाने के अभिप्राय से उसे चरित्र को गिरानेवाली गंदी जेलों में बन्द कर देती है जिसका परिणाम यह होता है कि वह कभी भी ईमानदारी की जीविका पैदा करने का विचार करने योग्य भी नहीं रह जाता

है। अराजकवादियों के अनुसार विज्ञान, कला, एवं शिक्षा इत्यादि के लिए भी सरकार की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उनकी उन्नति प्रायः सभी कालों में व्यक्तिगत प्रयत्नों से ही अधिक हुई है। व्यापारिक विनियम के लिए भी सरकार का होना अनिवार्य नहीं है। और इस कथन को पुष्ट करने के लिए कौपटिकिन उन देशों की रेलों व तारों की ओर इशारा करता है। जहाँ उनका प्रबन्ध सरकार के हाथ में न होकर किसी अन्य स्वतन्त्रवर्ग के हाथ में है। इसप्रकार अराजकवादी समझते हैं कि वर्तमान सरकारों द्वारा किए जानेवाले कार्य स्वतन्त्र-समूहों द्वारा विशेष अच्छी तरह किए जा सकेंगे। अतः वर्तमान राज्य व्यवस्था की सरकारें एक अनावश्यक वस्तु हैं और समाज का कर्तव्य है कि उस दूषित अंग को काट कर फेंक दें।

### स्वतन्त्र समाज का संगठन किस प्रकार होगा ?

जब राज्य व्यवस्था विनष्ट हो जायगी और समाज को नियंत्रित करने के लिये सरकारें न रहेंगी, तब व्यवस्था किस प्रकार कायम रखी जायगी। निःसंदेह व्यक्ति पूर्णरूप से स्वतंत्र हो जायगा। किन्तु ऐसी स्वतन्त्रता का परिणाम विप्लव हो सकता है। यदि समाज को संगठित करने के लिये किसी प्रकार की व्यवस्था नहीं निर्धारित की जायगी तो कालान्तर अराजक के स्थान पर फिर से शक्ति का साम्राज्य स्थापित होजायगा। अतः इस प्रश्न के उत्तर में कि स्वतन्त्र समाज का निन्यत्रण किस प्रकार होगा, अराजकवादियों का कहना है कि अराजक के काल में शान्ति की स्थापना व्यापार विनियम एवं सामाजिक

नियन्त्रण स्वतन्त्र संघों द्वारा होगा जो कि प्रधान उद्योग धंधों के संचालनार्थ स्थापित किये होंगे । यह संघ स्वतन्त्र औद्योगिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था पर संगठित होंगे । प्रत्येक संघ अपने प्रतिनिधियों तथा अप्रसरो को चुनेगा, निकालेगा, अपनी नीति निश्चित करेगा और स्वतन्त्रापूर्वक अन्य औद्योगिक संघों से सहयोग करेगा । यह संघ समाज के कामों के अनुसार छोटे बड़े सभी प्रकार के होंगे । अतः अराजक के सुनहरेकाल में जनता के वह सब कार्य जिनपर आज राज्य का एकाकी आधिपत्य है, स्वतन्त्र संघों द्वारा क्षमतापूर्वक सम्पादित किये जायेंगे । किसी लेखक का कहना है कि “Anarchism is the first and foremost plea for decentralisation, both functional and territorial. अर्थात् अराजकवाद केन्द्रीभूत व्यवसायिक एवं स्थली राज्य-शक्ति के पूर्ण स्थानीय वितरण का पूर्ण रूपण प्रतिपादक है । यह समाज के ढाँचे को छोटे-छोटे संघ जैसे गाँव या दूकान के आधार पर खड़ा करना चाहता है और विश्वास करता है कि उन छोटे-छोटे संघों के स्वतन्त्र सहयोग से समाज का सर्वोत्तम ढाँचा निर्माण किया जा सकेगा । अराजकवाद के आलोचकों का कहना है कि उन स्वतन्त्र संघों के आपसी भगड़ा को निपटाने के लिए एक शक्तिशाली संस्था की तब भी आवश्यकता पड़ेगी । अन्त वह संस्था या तो वर्तमान-राज्य होगा या उसका कोई दूसरा रूप । इसके उत्तर में अराजकवादियों का कहना है कि जब समाज में कोई अशिक्षित नहीं होगा, गरीब व अमीर का प्रश्न हट जाएगा और असंतोष के उतने अवसर नहीं रहेंगे, तब स्वतन्त्र संघों में भगड़ा होने की सम्भावना

नहीं के बराबर होगी। यह तो वर्त्तमानकाल की अपार असमानता है जो प्रत्येक संघ एवं व्यक्ति में शत्रुता उत्पन्न किया करती है। यह बात अवश्य ही निश्चित है कि संघों में प्रतियोगिता की भावना रहेगी, किन्तु इससे तो प्रोत्साहन ही होगा। रही कभी-कभी होनेवाले झगड़ों की बात उनको सम्यन्धित संघ ही अपने प्रतिनिधियों द्वारा पंचायती रूप में निर्णय कर लिया करेंगे।

संघों का स्वतन्त्र सहयोग एवं सम्यन्ध विश्व-समाज को प्राकृतिक-भागों के रूप में ला उपस्थित करेगा और वह आजकल के बनावटी राज्यों द्वारा निर्धारित प्रान्तों एवं राष्ट्रों का स्थान ले लेंगे। यह संघ व्यवस्था आजकल की साम्राज्यवादी युद्ध भावना से परे होंगे फलतः विश्व पहिले पहिल अराजक के युग में ही पूर्णशान्ति के मीठे फलों का आस्वादन करेगा। उस काल के प्राकृतिक व्यवस्था के संगठन एवं संचालन को समझाते हुए फ़ोरियर (Fowrier) साहब कहते हैं “कुछ पत्थर के टुकड़े उठाओ, उन्हें एक सन्दूक में रखकर अच्छी तरह हिला दो तो वह अपने आप इतनी अच्छी तरह सटे हुए लग जायेंगे कि जितनी अच्छी तरह कोई व्यक्ति एक एक करके कभी नहीं लगा सकता है।” वस समाज का भी यही हाल है।

### अराजकवाद की अर्थ-व्यवस्था

राजकुमार क्रोपाटकिन के शब्दों में अराजक के समाज में “प्रत्येक वस्तु पर सबका अधिकार है और यदि प्रत्येक व्यक्ति उत्पादन के कार्य में अपना कर्तव्य अदा करता है तो सम्पूर्ण समाज द्वारा उत्पादित

वस्तुओं में भाग लेने का उसको अधिकार है ।” दूसरे शब्दों में अराजक के समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करेगा और उसे उसकी आवश्यकता के अनुसार मिलेगा । काम और उसके इनाम में कोई निश्चित अनुपात न होगा । वास्तव में खाना, पर्याप्त कपड़े और रहने को स्वास्थ्य-प्रद स्थान तो सभी को मिलेगा । चाहे कोई काम करे या न करे । अराजकवादियों का कहना है कि उक्त वस्तुयें सर्व साधारण को समर्पण कर सकना समाज के लिए कोई कठिन कार्य न होगा । जैसे आज कर देने वाले न कर देनेवाले सभी व्यक्ति सड़कें, पार्क, पानी, पुस्तकालय इत्यादि स्वतन्त्रता-पूर्वक प्रयोग कर सकते हैं उसी प्रकार भविष्य में, जब विज्ञान की सहायता से उत्पादन बढ़ जायगा और जब व्यक्तिगत सम्पत्ति की व्यवस्था का विनाश हो जायगा तब समाज खाना कपड़ा इत्यादि तो सभी को सरलतापूर्वक दे सकेगा । अतः अराजक के युग में जीवन की अत्यन्तावश्यक वस्तुयें जनता को केवल माँगने से मिल सकेंगी, चाहे कोई काम करे या न करे । कुछ लोगों का कहना है कि जब मनुष्य की आवश्यकतायें बिना प्रयास ही पूर्ण हो सकेंगी, तो व्यक्ति को कार्य करने का प्रोत्साहन नहीं रहेगा । अतः साधारण जनता कठिन परिश्रम करने की अपेक्षा आलस्यमय जीवन अधिक पसन्द करेगी । इसके उत्तर में अराजकवादियों का कहना है कि इस प्रकार का तर्क करनेवाले मानव-प्रकृति को समझते नहीं हैं । प्रकृति से मनुष्य काम से घृणा नहीं करता है, बरन् इसके विपरीत उसे काम से प्रेम है और काम न मिलने पर दुःखी होता है । मनुष्य केवल अपनी रुचि के विरुद्ध काम करने तथा

विवश होकर अधिक समय तक काम करने से बचने की कोशिश करता है न कि काम से। अराजक के काल में समय एवं परिश्रम बचानेवाले कल कारखानों के निर्माण तथा पूँजीप्रथा के विनाश से मनुष्य को अनुचित समय तक अथवा सुस्ती लानेवाले कार्य करने की विशेष आवश्यकता नहीं रह जायगी। मन को पसन्द न आनेवाले तथा गन्दे कार्य, जहाँ तक सम्भव हो सकेगा, वैज्ञानिक यन्त्रों द्वारा किये जायँगे। जो कार्य इस प्रकार न हो सकेंगे, उन्हें समाज-सेवा के भाव से कार्य करनेवाले व्यक्ति कर डाला करेंगे और इस प्रकार के व्यक्तियों की कमी न होगी क्योंकि समाज-सेवी सम्मान की दृष्टि से देखे जायँगे। आलस्यमय जीवन बितानेवाले समाज की दृष्टि में घृणा के पात्र होंगे। अतः घृणा से बचना एवं काम करके सन्मान प्राप्त करना, लोगों को आलस्यमय जीवन छोड़कर कार्य करने को प्रोत्साहित करने के लिए पर्याप्त होंगे।

अराजकवाद पर लिखते हुए एक लेखक कहता है, “अराजकवाद के सिद्धान्त बहुत सीधे हैं। उनके विषय में थोड़े में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह किसी प्रकार के बाहरी अधिकार या शासन अथवा ज़मीन या पूँजी पर होनेवाले सिद्धान्त हैं कि सब लोग अपनी स्वतन्त्रतापूर्वक व इच्छानुसार पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करें। कृषि तथा शिल्प आदि के लिए स्वतन्त्र समितियाँ स्थापित हों और स्वतन्त्रतापूर्वक पारस्परिक सम्बन्ध स्थिर करने के लिए लोग अपने संघ स्थापित करें। अराजकों का मत है कि स्वतन्त्र संघ स्थापित करके समाज फिर से संगठित किया जाय।”

## अराजकवाद की आलोचना

अराजकवाद की आलोचना करनेवालों ने इसके विरुद्ध बहुत कुछ कहा है और बहुत कुछ कह सकते हैं। किन्तु इसकी आलोचना से हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि वास्तव में इसके विरुद्ध क्या कहा जा सकता है। इसके किन सिद्धान्तों में कमज़ोरी है और उन कमज़ोरियों को किस प्रकार दूर करके इसके सिद्धान्त सर्वप्रिय एवं सम्भव बनाए जा सकते हैं। किसी ने लिखा है “अराजकवाद जिस बात पर अधिक जोर देता है वह क्या है वर्तमान शक्तिशाली राज्यों ( Sovereign States ) की व्यवस्था तथा उनके शक्ति प्रयोग के तरीके दोनों ही अत्यन्त दूषित हैं। बकुनिन एक बड़ा अराजकी नेता हुआ है और उसने अपने ईश्वर और गज्य ( God and the star ) नामक ग्रन्थ में अपने उद्देश्य को स्पष्ट कर दिया है। जिस अराजकवाद का उसने प्रचार किया उसकी नास्तिकता अत्यन्त स्पष्ट और व्यापक है। उसका उद्देश्य समस्त साध्य उपायों से शक्तियों को नाश करना था। अराजकवादी प्रायः ईश्वर से लेकर सभी छोटी-छोटी शक्तियाँ एवं समस्त आदर्श व्यवस्थाओं को अस्वीकृत करते हैं। वे सार्वसाधारण पर न किसी राज का और न सर्वजनिक मत का किसी प्रकार का शासन चाहते हैं। किसी व्यक्ति अथवा जाति को औरों की अपेक्षा अधिक अधिकार अथवा मुभीते दिये जाना वह स्वीकृत नहीं कर सकते हैं।” इस प्रकार की व्यापक नास्तिकता का प्रिय होना वर्तमान दूषित व्यवस्था का अनिवार्य फल है और अराजक-

वादी सार्वभौमिक क्रान्ति का समर्थन करने में ग़लती नहीं कर रहे हैं। स्वतन्त्रता तथा जनसाधारण के हित की दृष्टि से अराजक के सिद्धान्त बड़े सुन्दर दिग्विष्ट देते हैं। यदि उक्त सिद्धान्तों में कोई दोष है तो केवल इतना है कि वे वास्तविकता की दृष्टि से देखे जाने पर केवल कल्पना-जगत की सृष्टि करते हुए प्रतीत होते हैं। यह कहना कि हमारी सामाजिक व्यवस्था वैसी नहीं है जैसी होनी चाहिए और बहुत से व्यक्तियों को स्वतन्त्रता केवल नहीं के बराबर प्राप्त है, बिल्कुल सच है और यह भी कहना चाहिए कि जगत् की आर्थिक एवं राजनैतिक व्यवस्थाओं में क्रान्तिकारी परिवर्तन किए जायँ। प्रायः अराजकवादी स्वतन्त्रता के आवेश में व्यवस्था को भूल जाते हैं समाज को व्यवस्थित रखने की अपार आवश्यकता है, नहीं तो पुनः प्राकृतिक दशा (Back to nature) का ज़माना आ जायेगा। अतः अराजकवादियों को चाहिए कि वे अपनी संघ-व्यवस्था को और स्पष्ट तथा व्यापक करें। संसार से आचरणहीन तथा बदमाशों का पूर्ण विनाश हो जाना सम्भव नहीं है। अतः कानून की भी आवश्यकता अवश्य ही रहेगी। दूसरे अराजकवाद की अर्थ व्यवस्था वास्तविकता की दृष्टि में कल्पनामात्र प्रतीत होती है। उन्हें इस पहलू को भी अधिक स्पष्ट तथा वास्तविक (Practical) बनाना है। तीसरे अराजकता के काल में जब समाज अनेक संघों में विभक्त होगा, तब प्रत्येक व्यक्ति का सम्वन्ध उनमें से दर्जनों से होगा, तब व्यक्ति को सब में आवश्यक भाग लेने के लिये समय कहाँ से मिलेगा। वर्तमान सरकारें अनेक दोषों से भरी होते हुए भी नागरिकों के बहुत

से समय को बचाती हैं। अराजकवादियों को राज्य व्यवस्था तोड़ने के पहिले समय के प्रश्न पर विचार करना होगा। अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि अराजकवाद के सिद्धान्तों में वास्तविकता के दृष्टि-बिन्दु से कुछ परिवर्तन कर दिये जायँ तो वे सर्व-प्रिय हो सकते हैं।

---

## फ्रान्सीसी व्यापार-संघवाद

उन्नीसवीं शताब्दी में फ्रान्स के श्रमिकों में जागृति उत्पन्न हुई। उन्होंने समझ लिया कि हम लोगों का उद्धार केन्द्रीभूत शासनाधिकार के अन्त हो जाने में ही होगा। उन्होंने अपना ध्येय केन्द्रीभूत शासन व्यवस्था एवं पूँजी-व्यवस्था को विनष्ट करके उत्पादन के समस्त साधनों को मज़दूरों के अधिकार में लाना रक्खा और इस ध्येय को लेकर सम्पूर्ण देश में व्यापारसंघ स्थापित करने लगे। सन् १८८६ में एक 'राष्ट्रीय व्यापार संघ' की स्थापना हुई किन्तु इस पर एक साम्यवादी-दल विशेष का अधिकार हो जाने के कारण साधारण श्रमजीवियों पर इसका प्रभाव नहीं के बराबर ही पड़ा। सन् १८८७ में दूसरा और १८९२ में तीसरा 'राष्ट्रीय व्यापार संघ' स्थापित हुआ और तीसरे राष्ट्रीय संघ ने १८९३ में एक कांग्रेस की, जिसने देशव्यापी हड़ताल के सिद्धान्त को बहुमत से स्वीकार कर लिया। तदनन्तर फ्रान्स में व्यापार संघों की संख्या में आश्चर्यजनक बाढ़ आई। सन् १८८४ में केवल ६८ व्यापार संघ थे किन्तु दस वर्ष बाद सन् १८९४ में उनकी संख्या २१७ हो गई थी। उनके सदस्यों की संख्या ४०३४४० थी। प्रारम्भ में व्यापार संघवादियों को साम्यवादी दलों के कारण बहुत कुछ हानि सहन करनी पड़ी थी जिसके कारण उन्होंने निश्चय कर लिया था कि अब हम किसी राजनीतिक दल में सम्मिलित न होंगे। १९०१ के लगभग अखिल

श्रमजीवी महासभा ( General Consideration of Labour ) में बहुत से अराजकवादी भी सम्मिलित हो गए । फलतः इस सभा के विचार क्रान्तिकारी हो चले थे और १९०६ में इस महासभा ने निश्चय किया कि पहली मई को श्रम-दिवस ( Labour day ) मनाया जाय और देश-व्यापी हड़ताल हो । यह हड़ताल २५-८५ कारखानों में हुई थी और दम लाख से अधिक मजदूर सम्मिलित हुये थे । इस प्रकार व्यापार-संघ एक सुदृढ़ संस्था बन गई । इस संस्था का पूर्ण इतिहास देना हमारे ध्येय के परे है, हम तो व्यापार संघवाद के सिद्धान्तों पर विचार करना चाहते हैं । नीचे संक्षेप में इसके सिद्धान्त दिये जाते हैं । पाठक देखेंगे कि व्यापार-संघवाद के सिद्धान्त कम्युनिस्टवाद एवं अराजकवाद में बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं । यह तीनों वाद सिद्धान्तिक भेद रखते हुए भी क्रान्ति के उपासक होने के कारण एक से प्रतीत होते हैं ।

व्यापार संघवाद का तत्व अथवा फ़िलासफ़ी जो कुछ भी कहिये यही है कि वह उत्पादन के समस्त साधनों पर श्रमजीवियों का पूर्ण आधिपत्य स्थापित करना चाहता है । वे साम्यवादियों तथा अराजकवादियों की तरह भावी समाज-व्यवस्था के चक्कर में पड़ना पसन्द नहीं करते हैं । उनका कहना है कि जब जगत्-व्यापी मजदूर क्रान्ति ( Proletarian Revolution ) हो चुकेगी, तब समाज की नवीन व्यवस्था पर विचार करने के लिये परियाप्त समय मिलेगा और यदि हम पहिले ही व्यवस्था सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करने लगेंगे तो व्यर्थ का वाद-विवाद बढ़ जायगा और श्रमिकों में कई दल पैदा हो जायेंगे । राजनैतिक

दृष्टि से व्यापार संघवादी अराजकवादियों की तरह वर्तमान राज्य-व्यवस्था को क्रान्ति द्वारा नष्ट कर देना चाहते हैं। उनकी धारणा है कि प्रत्येक व्यवसाय तथा उद्यम स्वतन्त्र रूप से संगठित होना चाहिये और उनमें काम करनेवालों का ही पूर्ण अधिकार होना चाहिये। वे श्रम-जीवियों का अधिकार कारखानों व खानों तक ही सीमित न रखकर रक्षा, न्याय एवं शिक्षा इत्यादि तक बढ़ा देना चाहते हैं। उनके मतानुसार अपने अपने व्यवसाय से सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थों के उत्पादन तथा विक्रय पर नियन्त्रण रखने के लिये सभी प्रकार के राष्ट्रव्यापी स्वतन्त्र-संघ जैसे दूध-वालों का संघ, फलवालों का संघ होने चाहिये।

व्यापार संघवादियों ने अधिक ध्यान उन उपायों पर दिया है जिनके द्वारा संसार-व्यापी मजदूर-क्रान्ति घटित की जा सकती है। इनके सभी विचारों की तह में यह धारणा अन्तर्हित रहती है कि श्रमजीवियों एवं पूँजीपतियों के हित परस्पर विरोधी हैं। अतः दोनों की विरोध भावना स्वाभाविक है। व्यापार संघवादी वैधानिक परिवर्तनों में विश्वास नहीं करते हैं। उनका तो यह सिद्धान्त है कि सामाजिक सिद्धान्तों के सभी प्रयत्नों का विरोध करना चाहिये क्योंकि समझौते श्रमिकों को सामयिक सुविधाएँ देकर उनके क्रान्तिकारी जोश को ठंडक पहुँचाते हैं। वे अपने क्रान्ति के आन्दोलन में राजनीति का घुसना भी पसन्द नहीं करते हैं क्योंकि उनका विश्वास है कि पार्लियामेण्टरी भावों से भरे हुए नेता अन्त में उन्हें धोखा दे जाते हैं। वे तो केवल क्रान्ति में विश्वास करते हैं और कहते हैं कि वर्गों में शान्ति तभी स्थापित की जा सकेगी जब पूँजी प्रथा का पूर्ण विनाश हो जायगा।

## व्यापार संघवाद के तरीके

व्यापार संघवादियों को वैधानिक सुधारों की अपेक्षा क्रान्ति में अधिक विश्वास है। क्रान्ति को कार्यान्वित करने के लिये वह सोवेटेज ( Sovatage ) और हड़ताल ( Strike ) नामक दो मार्गों का अनुकरण करना चाहते हैं।

व्यापार-संघ-वादियों का कहना है कि हड़ताल पूँजीपतियों एवं श्रमिकों की आमने सामने की लड़ाई है, और विश्व-व्यापी क्रान्ति घटित करने के लिये सब प्रकार की हानियाँ सहते हुए इस यथा सम्भव बढ़ाना चाहते हैं। अतः कहीं भी हड़ताल का अवसर आते ही हड़ताल करा देना वे लोग अपना मिद्धान्तिक कर्त्तव्य समझते हैं। उनका कहना है कि कभी-कभी हो जानेवाली हड़तालों मजदूरों के लिये फ़ौजी ड्रिल का काम देती हैं। जिस प्रकार सिपाहियों की प्रतिदिन की कठिन कसरत व युद्ध सम्बन्धी तरीकों का अभ्यास उन्हें युद्ध के लिये उत्तुम बना देता है और वह अपने प्राणों का मोह त्याग कर सदा लड़ने के लिये तैयार रहते हैं उसी प्रकार यदाकदा होजानेवाली हड़तालों श्रमिक-वर्ग को पूँजीवर्ग से लोहा लेने को प्रोत्साहित किया करती हैं। हड़तालों की सफलता श्रमिकों के साहस को बढ़ाती है। बहुत से व्यापार-संघ-वादी यह आशा करते हैं कि हड़तालों की सफलता और बढ़ता हुआ साहस एक दिन ऐसा लाएगा जब विश्व के सभी कारखानों में एक साथ हड़ताल हो जायगी।

व्यापार-संघ-वादियों का कहना है कि पूँजीपति केवल हड़तालों से

नहीं विनष्ट किये जा सकते हैं। मज़दूरों को चाहिये कि वे प्रत्येक अवसर पर दूसरे उपाय से भी उन्हें दबाने के लिये तैयार रहें। सोवेटेज़ (Sovatsge) का अभिप्राय यह है कि मज़दूर जानबूझकर ऐसी हरकतें करना प्रारम्भ करें जिससे उत्पादन में विघ्न पड़े और पूँजीपतियों की पूँजी को धक्का पहुँचे। पूँजी और परिश्रम के बीच यह दो गोरिल्लों की सी लड़ाई है। इस लड़ाई की कई सूरतें हैं। मज़दूरों को चाहिये कि कभी कभी मशीनें तोड़ दें जिनके सुधारने में पूँजीपतियों को पर्याप्त व्यय करना पड़े। कभी कभी काम के साथ खेला करें अर्थात् जब तक कोई अफ़सर देखता हो तब तक काम का ढोंग रचें और जहाँ वह खोपड़ी पर से हटे फिर बैठ रहें और इस प्रकार मामूली मज़दूरों के बदले मामूली से भी कम काम करके दें। कभी-कभी वह अफ़सरों की आज्ञाओं का पालन अन्तरशः करें। इसके सिवा चीज़ों को इतना अच्छा बनाने में लग जाया करें कि आवश्यक परिमाण में न तैयार हो सके। कारख़ाने के माल की कमज़ोरियाँ जनता में प्रकाशित कर दें जिससे विक्रय में धक्का पहुँचे। इन सब उपायों के सिवा पूँजी को हानि पहुँचाने के लिए वह माल भेजने समय पते में कभी-कभी ग़लतियाँ कर दिया करें। उत्पादन तथा पूँजी को धक्का पहुँचानेवाले उक्त तरीकों का व्यापार-संघ-वादी सोवेटेज़ कहते हैं और उन्हें इन तरीकों से बड़ी आशा है।

व्यापार-संघ-वाद ने जो अंश अराजकवाद से लिया है वह यह है कि वह क्रान्ति के नैतिक महत्त्व पर अधिक भरोसा रखता है। व्यापार-संघ-वादियों को यह दृढ़ विश्वास है कि श्रम-जीवियों एवं पूँजीपतियों के

हित परस्पर विरोधी हैं। उनका यह भी कहना है कि जहाँ पूंजी-प्रथा जड़ जमा चुकी है वहाँ इस विरोध के कारण दोनों वर्गों में युद्ध चला करता है अतः जिस प्रकार अराजकवादी शासकों एवं शासितों में निरन्तर एवं अनिवार्य युद्ध के कारण शासकवर्ग के नेताओं की हत्या कर डालने के कार्य को निन्दनीय नहीं समझते हैं उसी प्रकार व्यापार संघवादी भी कहते हैं कि जब पूंजीपतियों एवं श्रमिकों में निरन्तर युद्ध छिड़ा हुआ है तब श्रमिक पूंजीपतियों की मशीनें तोड़ कर रही माल तैयार करके या अन्य किसी उपाय से उन्हें पूरी-पूरी हानि पहुँचा सकते हैं और उनका यह कार्य निन्दनीय नहीं समझा जाना चाहिये। उनका कहना है कि हड़ताल के दिनों में मजदूरों को ऐसे कार्य तो अवश्य ही करने चाहिए। ऐसा करने में वे नीतियुक्त नहीं समझे जा सकते हैं। व्यापार-संघ-वादी भावी राज्य के विषय में विशेष विचार करते हुए नहीं प्रतीत होते हैं। उनके इस सम्मन्ध के विचार भी, जो कुछ भी हैं अराजकवाद से लिए गए मालूम पड़ते हैं। उनकी धारणा है कि पूंजी की सहायता से व्यापार करने की प्रथा उठ जानी चाहिये और शासन-संघ का भी अन्त होजाना चाहिए। वे समाज के सम्पूर्ण सर्वजनिक जीवन को व्यापार-संघों के अन्तर्गत देखना चाहते हैं। समाज के स्थानिक कार्य स्थानिक व्यापार-संघ किया करें और सम्पूर्ण समाज को प्रभावित करनेवाले कार्यों का सम्पादन व्यापार-संघों की वह महासभा जिसमें अन्य व्यापार-संघों के प्रतिनिधि होंगे, किया करेगी। प्रत्येक मनुष्य से उसकी योग्यता एवं प्रवृत्ति के अनुसार कार्य लिया जायगा और समाज उसे उसकी आवश्यकताओं के अनुसार धन और सामग्री देगा। इस

प्रकार सम्पूर्ण मानव-समाज एक परिवार के रूप में परिवर्तित हो जायगा और परिवार के प्रत्येक प्राणी को भोजन, वस्त्र व रहने का स्थान केवल मांगने पर बिना किसी मूल्य के ही दिया जाया करेगा। उत्पादन के साधनों पर भी सब का समानाधिकार रहेगा किन्तु जो वस्तु एक व्यक्ति के व्यवहार में होगी उसपर अकारण ही कोई इसका अधिकार नहीं कर लेगा।

यह व्यवस्था ठीक-ठीक परिवारिक व्यवस्था होगी। जिस प्रकार एक सच्चे परिवार में किसी वस्तु पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार नहीं रहता है केवल व्यवहारिक अधिकारमात्र रहता है। व्यापार-संघ-वादी उसी प्रकार की व्यवस्था सम्पूर्ण समाज में देखना चाहते हैं। प्रत्येक व्यापार या शिल्प सम्बन्धी साधनों अथवा औजारों पर भी व्यापार-संघ का ही अधिकार रहेगा। वे पूँजी-प्रथा के कारण उत्पन्न हुई धन प्राप्ति के लिए होनेवाली प्रतियोगिता एवं वर्गीय शासन व्यवस्था को विनष्ट करने के लिए इस परिवारिक व्यवस्था को रामबाण समझते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि व्यापार-संघ-वाद का मुख्य उद्देश्य यह है कि शिल्प की प्रत्येक शाखा पर केवल इसमें काम करनेवालों का ही पूरा-पूरा अधिकार रहे और समाज का संगठन स्थानिक विचार से नहीं बरन् पेशों के विचार से होना चाहिये। किन्तु कुछ फ्रांसीसी व्यापार-संघ-वादियों ने इस कथन का खंडन किया है। वे कहते हैं कि यह तो केवल पूँजीवाद का एक परिवर्द्धित रूप होगा और आगे चल कर यह भी उसी की तरह घातक सिद्ध होगा। व्यापार-संघ-वाद का मुख्य उद्देश्य यह है कि उत्पादन की सम्यक व्यवस्था की जाय और

उत्पादित सामग्री का समुचित बँटवारा हो। उस पर कोई अपनी मिलकियत न कायम न कर सके। कुछ व्यापार-संघ-वादी यह भी कहते हैं कि स्थानिक शासन तो व्यापारिक सभाओं के हाथ में रहे और प्रधान या केन्द्रीय व्यवस्था व्यापार-संघ की कांग्रेस के हाथ में हो जिसके अधिवेशन बीच-बीच में हुआ करें।

## व्यापार-संघ-वाद की आलोचना

व्यापार-संघ-वाद की आलोचना उन सभी लोगों ने की है जो क्रान्ति के विरोधी हैं और जिन्हें मानव-समाज की भलाई केवल वैधानिक सुधारों में ही दिगवाई देती है। इसके आलोचक दो वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं। एक वर्ग तो इसके 'उत्पादन के समस्त माधनों पर श्रमजीवियों का अधिकार हो' इस सिद्धान्त की आलोचना करता है। दूसरा वर्ग इसके क्रान्तिकारी तरीकों को बुरा बतलाता है।

प्रथम वर्ग के आलोचक इसके उक्त सिद्धान्त के विरुद्ध निम्न-लिखित विरोध करते हैं।

( १ ) मुख्य मुख्य कारखानों में काम करने वाले व्यक्ति अपनी स्थिति का अनुचित लाभ उठावेंगे। वे माधारण श्रमिकों के परिश्रम से घटित किये गये परिवर्तनों से कारखाने के आवश्यक अंगों पर स्वयं अधिकार कर लेंगे, और राज्य के विनाश से कोई दूसरी ऐसी शक्ति भी नहीं रहेगी जो उन्हें उत्पादित सामग्री का समुचित विभाजन करने के लिए बाध्य करें।

( २ ) उत्पादकों का संघ कभी उत्पादन के नवीन यंत्रों का

प्रयोग करने की इच्छा नहीं करेगा क्योंकि ऐसा करने के लिये उन्हें नई बातें सीखने का कष्ट उठाना पड़ेगा ।

( ३ ) विभिन्न कारखानों के संघों में कभी कभी भगड़े अवश्य ही होंगे । किन्तु व्यापार-संघ-वादी उनके मिटाने की कोई व्यवस्था करते हुये नहीं दिखाई देते हैं ।

( ४ ) बहुत से कारखानों में उत्पादकों का अधिकार बहुत ही हानि कारक रहेगा । उदाहरणार्थ कोई भी समझदार व्यक्ति महकमा न्याय तथा फ़ौज इत्यादि पर उत्पादकों का अधिकार पसन्द नहीं कर सकता ।

व्यापार-संघ-वादियों के क्रान्तिकारी उपायों के विरुद्ध भी बहुत से विरोध किये गये हैं, इनमें से मुख्य यह हैं ।

( १ ) व्यापार संघवादी राजनैतिक मामलों में भाग लेना नहीं चाहते हैं । इसका अर्थ यह है कि वह सम्पूर्ण राजनैतिक शक्ति श्रमिकों के शत्रु पूँजीपतियों के हाथों में छोड़ देना चाहते हैं । फलतः हड़ताल इत्यादि में पूँजी-वर्ग राज्य की सम्पूर्ण शक्ति श्रमिकों का दमन करने में निरन्तर प्रयोग करेगा और इस प्रकार श्रमिक अपने ध्येय में सफल नहीं हो सकेंगे । इस प्रकार की लड़ाई को लोग एक हाथ पीठ पीछे बांध कर लड़ना कहते हैं ।

( २ ) व्यापार-संघ-वादी यह कहने में कि हम एक विश्वव्यापी हड़ताल द्वारा पूँजीपतियों की सत्ता का विनाश कर देंगे, पूँजीवाद की शक्ति का ग़लत अनुमान करते हैं । वह इतनी आसानी से नष्ट होने वाली वस्तु नहीं है ।

( ३ ) व्यापार संघवादी कल व कारखानों को तोड़ताड़ कर व

उत्पादन के साधनों को विनष्ट करके अपनी सत्ता स्थापित करना चाहते हैं, इस प्रकार से श्रमिक-वर्ग की सत्ता स्थापित हो जाने पर भी समाज को कुछ लाभ नहीं होगा क्योंकि मने के अंड़े देने वाली मुर्गी को तो वह पहले ही मार डालेंगे ।



## गिल्ड समाजवाद ( Guild Socialism )

गिल्ड समाजवाद के सिद्धान्त पूर्णतया ब्रिटिश हैं और इसकी प्रादुर्भूति अभी बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुई है ।

### इसके सिद्धान्त तथा ध्येय

गिल्ड समाजवाद का ध्येय मजदूरी प्रथा का विनाश करके कारखानों में मजदूरों की सरकार स्थापित करना है और इस कार्य को वे लोक-तंत्री राष्ट्रीय गिल्डों के द्वारा जो कि देश के अन्य लोक-तंत्री औद्योगिक संघों के सहयोग से कार्य करेंगी, करना चाहते हैं । अतः गिल्ड समाजवाद के प्रधान सिद्धान्त तीन हैं ।

( १ ) औद्योगिक लोक-तंत्र ( Functional democracy ) का सिद्धान्त ।

( २ ) कारखाना उन शारीरिक एवं मानसिक कार्य करने वालों द्वारा जिनके ऊपर कारखाने का चलना निर्भर है शासित होना चाहिये ।

( ३ ) तीसरा सिद्धान्त यह है कि समाज में व्यक्ति की शक्ति उसके उस कार्य की कीमत से अनुपात रखती हो जो वह समाज की सेवा में करता हो ।

## औद्योगिक लोक-तंत्र ( Functional Democracy)

औद्योगिक लोक-तंत्र का आधार औद्योगिक प्रतिनिधित्व है। इस प्रथा के समर्थकों का कहना है कि एक व्यक्ति अन्य समूह की कौन कहे अन्य व्यक्ति तक का भी प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता है, किन्तु एक मनुष्य उस समुदाय विशेष के हित का प्रतिनिधित्व कर सकता है जो कि उसका भी हित है। अतः प्रतिनिधित्व औद्योगिक होना चाहिये अर्थात् हितों का न कि भौगोलिक विभागों का। जनता की इच्छा प्रदर्शित करने वाली सच्ची लोकतंत्रीय वही संस्था हो सकती है जो कि व्यवसाय विशेष में लगे हुये व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करती होगी क्योंकि उन व्यक्तियों के हित एक ही होंगे। इस प्रकार राजनैतिक कार्य तथा सामाजिक सेवायें जैसे अन्य देशीय सम्बन्ध, रक्षा, कानून, शिक्षा कर इत्यादि कार्य वर्तमान पार्लियामेन्ट के समान भौगोलिक प्रतिनिधित्व करवाली संस्था को सौंपे जाने चाहिये क्योंकि ये कार्य विशेष भौगोलिक क्षेत्र के निवासियों पर प्रभाव डालते हैं। उसी प्रकार पानी, गैस, सप्लाई इत्यादि घरलू ( Local ) बोर्डों को सौंप देने चाहिये और उसी प्रकार कारखानों के मज़दूरों की हँसियत, उनकी मज़दूरी, काम करने के घंटे इत्यादि इसी काम के लिये निर्वाचित मज़दूरों व मालिकों के संगठन द्वारा निश्चित किये जाने चाहिये। किन्तु यह प्रश्न कि कैसा और कितना सामान उत्पादित किया जाय तथा उत्पादित सामग्री इत्यादि केवल उत्पादन करने वालों से ही सम्बन्ध नहीं रखते हैं बरन् इनका संबंध खपत करने वालों से भी है, इसीलिये वह प्रश्न खपत

करने वालों ( Consumers ) और उत्पान करने वालों ( Manufacturers ) की कौंसिलों के सम्मिलित विवेचन द्वारा हल किये जा सकते हैं । इस प्रकार औद्योगिक लोक-तंत्र के सिद्धान्त केन्द्रीय सरकार की शक्तियों का उन विभिन्न समुदायों में वितरण चाहते हैं जो कि जनता के विशेष हितों को प्रदर्शित करते हों ।

दूसरे व तीसरे सिद्धान्तों का तात्पर्य यह है कि देश के मुख्य मुख्य कारखानों तथा पब्लिक नौकरियाँ सरकार के आधीन होनी चाहिये किन्तु जैसा कि समष्टिवादी ( Collectivists ) कहते हैं, उनका प्रबन्ध नौकरशाही के हाथ में नहीं होना चाहिये । गिल्ड समाजवादियों का कहना है कि कारखाने का नियंत्रण ऊपर से नहीं वरन् नीचे से होना चाहिये । फोरमैन और मैनेजर लोग मजदूरों द्वारा निर्वाचित होने चाहिये और उनका उत्तरदायित्व भी उन्हीं पर होना चाहिये ताकि कारखानों के संगठित मजदूर कारखाने के शासन पर प्रभाव पूर्ण अधिकार रख सकें । मजदूरों का वह संगठन जिसके हाथ में ऐसे अधिकार सौंपे जायँगे, गिल्ड कहा जायगा और हममें चपरासी से लेकर मैनेजर तक शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार का काम करने वाले सम्मिलित होंगे । इन गिल्डों का काम ट्रेड-यूनियनों ( Trade unions ) की तरह केवल मजदूरों की रक्षा करना ही नहीं होगा । वास्तव में वे कारखानों को चलायेंगी ।

ऐसी योजना के अन्तर्गत सरकार का क्या कार्य ( Function ) तथा स्थिति ( Position ) होगी । गिल्ड समाजवादी राज्य की सर्वशक्ति शाली प्रभुता को तो मानते नहीं हैं किन्तु वे संघवादियों

Syndicalists ) की तरह उसे विनष्ट करना भी नहीं चाहते हैं । गिल्ड समाजवादियों के एक समुदाय का कहना है कि सरकार खपत करनेवालों (Consumers) की प्रतिनिधि बनी रहेगी, दूसरे वर्ग की धारणा है कि सरकार राजनैतिक मामलों का प्रबन्ध करने के लिये एक भिन्न संस्था बनी रहेगी ।

### गिल्ड-समाजवाद के तरीके

गिल्ड समाजवादियों को अपने तरीकों का वैधानिक ( Constitutional ) तथा पूर्ण रूप से शान्तिमय होने का धमंड है । उनकी परिस्थिति स्पष्टतः विकास का परिणाम होगी । वह वर्तमान ट्रेड-यूनियनों से अपना काम आरम्भ करना चाहते हैं । वह किसी कार्यालय विशेष के कर्मचारियों से बनी होंगी और वह कार्यालय के संचालन में कुछ न कुछ अधिकार अवश्य प्राप्त कर लेंगी । अतः गिल्ड समाजवादियों का आन्दोलन प्रारम्भ में ट्रेड यूनियन्स की बनावट तथा उनके कार्य में परिवर्तन करने की ओर लगाया गया । वे चाहते हैं कि ट्रेड यूनियन्स की संख्या कम हो जाय और वह बड़ी बड़ी संस्थाओं में परिवर्तित हो जायँ । दूसरे ट्रेड-यूनियन्स को चाहिये कि वे कारखाने के प्रबन्ध में हस्तक्षेप किया करें । इसे धीरे धीरे अधिकार करने की नीति ( 'The policy of encroaching control ' ) कहते हैं । ट्रेड-यूनियन्स की पहली माँग यह होनी चाहिये कि फ़ोरमेन और मैनेजर मजदूरों की इच्छानुसार चुने और अलग किये जाया करें और इस प्रकार कुछ समय बाद कारखाने नीचे से संगठित हो

जायेंगे। धीरे धीरे अधिकार करने की नीति का दूसरा खास तरीका यह होगा जिसे सामूहिक अधिकार कहते हैं जिसका तात्पर्य यह है कि ट्रेड यूनियन्स एक मालिक और उसके नौकरों से एक सामूहिक ठेका ( Collective Contract ) करायें कि इस तरह का इतना काम इतने समय के अन्दर इतने धन पर किया जाय। इस प्रकार ट्रेड यूनियन्स निश्चित परिमाण में माल तैयार कराने की ज़िम्मेदारी लें और उसके बदले में निश्चित धन पर जायें जो कि कर्मचारियों में विभाजित कर दिया जाय इसके सिवा मजदूरों के ऊपर देखभाल की तथा मैनेजर व फोरमैन-इत्यादि के रखने व हटाने की ज़िम्मेदारी भी वे ही लें। गिल्ड समाजवादियों की इस नीति ने अभी नहीं के बराबर ही सफलता प्राप्त की है।

नेशनल गिल्ड लीग का इसके मुख्य मुख्य सिद्धान्तों को हमारे सामने लाता है। हर एक उद्योग ( Industry ) का हर एक कारखाना अपने उत्पादन के तरीकों पर चुने हुये मैनेजरों द्वारा अधिकार रक्खा करे किन्तु एक उद्योग विशेष से सम्बन्ध रखने वाले सभी कारखाने एक नेशनल गिल्ड के रूप में संगठित हों। यह नेशनल गिल्ड उत्पादन के विक्रय तथा उद्योग के ग्राम हित की बातों का अपने हाथ में लें। राज्य समाज के एक ट्रस्टी के रूप में उत्पादन के साधनों पर अधिकार रखें और गिल्ड भी समाज के एक ट्रस्टी के रूप में उनका प्रबन्ध करें और राज्य को एक उचित कर अदा कर दिया करें। जो गिल्ड समाज के हितों की अपेक्षा अपने हितों पर अधिक ध्यान देगी वह अपने ट्रस्ट के नियमों का भंग करने की अपराधिनी होगी और उसे उत्पादकों व उपभोगकों के दोनों समुदायों के प्रातनिधियों द्वारा बने हुये न्यायाधीश के

न्याय के सामने सर झुकाना होगा । यह ज्वाइंट कमेटी (सम्मिलित सभा) ही अन्तिम सत्ता होगी, यहीं उद्योग सम्बन्धी अन्तिम अपील हो सकेगी । यह कमेटी केवल गिल्ड कर ही नहीं निश्चित करेगी वरन् उचित मूल्य भी । टेक्स व स्टैंडर्ड मूल्य इन दोनों वस्तुओं को यह कमेटी कभी कभी परिवर्तित भी किया करेगी ।

किसी भी इंडस्ट्री में काम करने वाले सभी मज़दूर उसकी गिल्ड के सदस्य होंगे और हर एक गिल्ड अपनी सम्पूर्ण आमद को मन माने ढंग से आपस में बांटने को स्वतंत्र होगी । अधिक गिल्ड अपनी सामूहिक आमदनी को अपने सदस्यों में किस तरह बांटें यह हर एक गिल्ड से अलग अलग सम्बन्ध रखने वाला मामला होगा अर्थात् गिल्डस समान बटवारे के सिद्धान्त को अपनायेगी, यह निश्चित नहीं है ।

गिल्ड-सोशलिज़्म और सिडिकेलिज़्म इस बात में एक राय हैं कि राज्य को नौकर रखनेवाला ( Employer ) बना कर स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं की जा सकती है । “ राज्य और म्यूनिसिपैलिटीयां मालिक ( Employer ) की हैसियत से सदा एक पूँजिपति से कोई विशेष भिन्न नहीं साबित हुई हैं । ” गिल्ड समाजवाद राज्य को उपभोगक-वर्ग की दृष्टि से देखता है और गिल्ड स्वयं अपने को उत्पादक का प्रतिनिधि बताती है । इस प्रकार पार्लियामेन्ट और गिल्ड महासभा ( guild congress ) उपभोगक व उत्पादक वर्गों का प्रतिनिधित्व करने वाली समान शक्ति का संस्थायें समझी जानी चाहियें । दोनों के ऊपर वह सम्मिलित सभा ( Joint Committee ) होगी जो कि पार्लियामेन्ट और गिल्ड-कॉग्रेस से बनेगी ।

गिल्ड समाजवादियों का कहना है कि स्टेट-सोशलिज़्म (समष्टिवाद) मनुष्य मात्र को उपभोगक के रूप में देखती है और सिंडिकेलिज़्म उन्हें उत्पादकों के रूप में । गिल्ड समाजवादियों का कहना यह है कि दोनों दृष्टि कोणों को एक में मिलाया जाय ।

## स्टेट-सोशलिज़्म और कम्युनिज़्म में मुख्य भेद

समाजवाद, कम्युनिष्टवाद एवं अराजकतावाद के सिद्धान्तों का पूरा किन्तु संक्षिप्त विवेचन कर चुकने के बाद यह आशा अवश्य ही की जा सकती है कि गम्भीर पाठक उक्त धारणाओं के सिद्धान्तिक अन्तर को भली प्रकार समझ जायेंगे, किन्तु प्रायः साधारण व्यक्ति उनके सिद्धान्तिक अन्तर को न समझ सकने के कारण उन्हें एक दूसरे से उलझाया करते हैं, इस उलझन को सुलझाने के अभिप्राय से ही यहाँ पर कुछ शब्दों में उनका अन्तर दिखाने का प्रयास किया जायगा, साम्यवाद से यहाँ पर अभिप्राय उन सिद्धान्तों से है जो कि समष्टिवाद ( State Socialism ) के नाम से पुकारे जा चुके हैं ।

कम्युनिस्टवाद और समाजवाद दोनों ही वर्तमान पूँजीवाद के विरोधी हैं और दोनों इस बात में एक राय हैं कि संसार में उत्पादन आवश्यकता से अधिक होता है किन्तु अधिकांश समाज भूखा और नंगा इसलिये रहता है कि वितरण की व्यवस्था अत्यंत दूषिता है अतः समाज की वर्तमान व्यवस्था में अपार परिवर्तन करना दोनों का ध्येय है । किन्तु मतभेद इस बात में है कि परिवर्तन किस प्रकार किया जाय और व्यवस्था परिवर्तन हो जाने के उपरान्त वितरण का तरीका क्या होगा । जैसा कि पहले बताया जा चुका है कम्युनिस्ट अधिक क्रान्तिकारी हैं, उन्हें विश्व-क्रान्ति में भरोसा है । उनका

दृढ़ विश्वास है कि बिना क्रान्ति के आवश्यक परिवर्तन घटित नहीं हो सकते हैं, किन्तु समष्टिवादियों को वैधानिक सुधारों में भी काफ़ी विश्वास है। वह विधान की सहायता ही से क्रान्तिकारी परिवर्तन करना चाहते हैं, वह कम्युनिस्टों की भाँति विश्व क्रान्ति में श्रमिकों ही की विजय निश्चित न समझ कर, उसे एक अत्यन्त वांछनीय वस्तु नहीं समझते हैं।

कम्युनिस्टवाद और समाजवाद के वितरण के सिद्धान्तों में भी अपार अन्तर है, मैकडानल्ड ने अपनी पुस्तक 'दि सोशलिस्ट मूवमेन्ट' में उक्त दोनों धारणाओं का अन्तर प्रदर्शित करते हुये लिखा है, "प्रत्येक व्यक्ति से उसकी योग्यता के अनुसार और प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकता के अनुसार" का सिद्धान्त कम्युनिस्ट है सोशलिस्ट नहीं, समाजवादी तो यह कहेगा "आवश्यकता के लिये काम करे।" आप लिखते हैं कि दोनों इस बात में एक राय हैं कि समाज का एक सम्मिलित भंडार है किन्तु दोनों में इस बात पर मतभेद है कि व्यक्ति का उस भंडार से अपना भाग लेने का दावा किस प्रकार का होना चाहिये। कम्युनिस्टों का विश्वास मनुष्य के जीवित रहने के अधिकारों में है अतः उनके अनुसार काम करने व न करने का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता है। उनका यह भी विश्वास है कि समाज का आचरण इतना ऊँचा उठ जायेगा कि काम न करने वालों की वास्तविक समस्या उपस्थित होने का अवसर ही नहीं आयेगा। किन्तु समाजवादी सिद्धान्तों के अनुसार वितरण व्यक्तिगत आमदनी द्वारा होगा, अतः यह स्पष्ट है कि समाजवादियों को रुपया पौंड या नोट किसी न किसी

माध्यम की आवश्यकता रहेगी किन्तु कम्युनिस्ट इस प्रकार के माध्यम की आवश्यकता नहीं समझते हैं, दोनों का अन्तर यों समझा जा सकता है कि एक के अनुसार तो ग्राहक दूकानदार से शक्कर मोल लेता है और दूसरे के अनुसार घर का बच्चा प्रातः नाश्ते के लिये उसी शक्कर को मांगता है, अथवा यों कहिये कि कम्युनिस्ट विश्व-परिवार की कल्पना करते हैं और जिस प्रकार परिवार में काम करने वाले व न करने वाले सभी व्यक्ति बिना किसी प्रकार का मूल्य चुकाये सभी चीज़ आवश्यकतानुसार प्रयोग करते हैं उसी प्रकार की दशा सम्पूर्ण समाज की होगी। समाजवादी आमदनी की व्यवस्था को दो कारणों से जारी रखना चाहते हैं। एक तो यह कि व्यक्ति को अपने परिश्रम का फल मिले और कोई दूसरे के परिश्रम को हड़प न कर सके, दूसरे व्यक्ति अपनी इच्छानुसार जीवन-यापन कर सके।

कम्युनिस्टवाद के आर्थिक - सिद्धान्त अराजकतावाद के राज-नैतिक सिद्धान्तों से जुड़े हुये हैं, किन्तु कभी कभी लोग उन्हें समाजवाद से भी उलझा देते हैं। अराजकतावाद के राजनैतिक सिद्धान्त शक्ति-शाली राज्य का विनाश चाहते हैं और इस बात में वे समाजवाद के शत्रु हर्बर्ट स्पेन्सर द्वारा समर्थित व्यक्तिवाद ( Individualism ) से मिलते हैं न कि समाजवाद से जो कि राज्य की सत्ता को और भी बढ़ाना चाहते हैं। अतः अराजकतावाद और समष्टिवाद ( State Socialism ) एक दूसरे के प्रकृति विरोधी हैं। अराजकता के सिद्धान्त पहले से ही उस दशा की कल्पना कर सकते हैं जब राज्य व्यवस्था मिट गई है और समाज केवल स्वतन्त्र संघों द्वारा संगठित है। अतः हम

कह सकते हैं कि अराजकतावाद व समाजवाद में एक बड़ा राजनैतिक अन्तर है पहिला राज्य-विहीन व्यवस्था की कल्पना करता है और दूसरा शक्तिशाली व्यवस्थापिका में विश्वास करता है। एक अन्तर और है अराजकतावादी मानव-स्वभाव से स्वार्थ इत्यादि के अचानक निकल जाने की आशा करते हैं, समाजवादी ऐसी आशा नहीं कर सकते हैं।

फ्रान्स से अमेरिका और इटली से जापान तक संसार के सभी देशों का अनुभव हमें बताता है कि अराजकतावाद और समाजवाद के आन्दोलन एक दूसरे से टकरा जाते हैं। तो भी बहुत से लोग दोनों के राजनैतिक सिद्धान्तों का अजीब ढंग से तोड़ मरोड़ कर इस प्रकार एक साथ कर देते हैं जिससे दोनों एक ही वस्तु प्रतीत होने लगते हैं, इसका कारण यह है कि समाज के वह मस्तिष्क जो तार्किक विवेचन के आदी नहीं होते हैं वर्तमान व्यवस्था का विरोध करने वाले सभी विचारों को उनमें मौलिक तथा सिद्धान्तिक अन्तर होते हुये भी एक ही वस्तु समझने लगते हैं।

---

## समाजवाद पर स्पष्ट विचार

**समाज के अधिकार**—साम्यवाद सिद्धान्त पूँजीवाद को विनष्ट करके सम्पत्ति का सम्यक वितरण चाहता है। वह उत्पादन, विनिमय एवं वितरण के प्रमुख साधनों पर समाज (राज्य) का अधिपत्य हितकर समझता है। वह स्वार्थ-पूर्ण व्यक्तिगत नियन्त्रण जिसके कारण श्रमिक वर्ग को निरन्तर कठित परिश्रम करने पर रूखी रोटियों तक के लाले पड़े रहते हैं, नष्ट करके, उत्पादन के सम्पूर्ण साधन ऐसी लोकसंग्रह से कार्य करनेवाली लोक-तन्त्री सरकार के हाथों में सौंपना चाहते हैं जो अपने स्वार्थ-विहीन नियन्त्रण एवं समुचित वितरण द्वारा संसार से वर्ग-भावना को विनष्ट करके व्यर्थ की यातना को हटा दें। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या समाजवाद जीवन से सम्बन्ध रखने वाली सभी वस्तुओं पर समाज (राज्य) का अधिकार चाहता है या कुछ वस्तुएँ व्यक्तिगत अधिकार में भी छोड़ दी जावेंगी? यद्यपि समाजवादी इस बात में कि किन वस्तुओं को समाज के अधिकार के योग्य और किनको अयोग्य समझा जाय मतभेद रखते हैं, तो भी अधिकांश की राय एक सी है। वे समाज-अधिकार के अयोग्य वह सम्पत्ति बताते हैं जो हमारी नैतिक आवश्यकता के क्षेत्र में आती हैं। उनका कहना है कि जनता के खाने, उसके कपड़ों इत्यादि पर समाज को अधिकार कर लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। समाजवादी शासन-काल में भी हमारे बच्चे अपने खिलौनों पर अधिकार

रखवेंगे; और हम अपनी साइकिल को समाज की नहीं बरन् अपनी ही समझेंगे। हमारे घरों पर भी हमारा अधिकार होगा। अतः प्रतिदिन की आवश्यकता पूरी करनेवाली वस्तुओं पर व्यक्ति का ही अधिकार समाजवादी शासनकाल में भी हितकर समझा जावेगा। इस प्रकार की सम्पत्ति को समाजवादी प्रायः समाजाधिकार के अयोग्य सम्पत्ति कहते हैं। किन्तु वह वस्तुएँ, जिनका निर्माण सम्पूर्ण मानव-समाज के भोग के लिये हुआ है; और जिनको एक वर्ग लूट खसोट द्वारा अपने अधिकार में करके दूसरे वर्ग को उनके उपभोग से वंचित कर रहा है, समाज के अधिकार में आज्ञानी चाहिये। इस प्रकार समाजवादी बड़ी-बड़ी जमींदारी व ताल्लुकदारी, रेल, तार, जहाज़, ग्यानें, कल व कारखाने इत्यादि पर समाज का आधिपत्य चाहते हैं। इस प्रकार की सम्पत्ति को वे समाजाधिकार के योग्य सम्पत्ति कहते हैं।

यह समाजाधिकार क्योंकर साधित हो ? इस विषय पर भी समाजवादियों में मतभेद है।

( १ ) एक वर्ग का कहना है कि व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपनी पूँजी समाज ( राज्य ) को अर्पित कर दे। व्यक्ति को समझना चाहिये कि सम्पत्ति संचित करना दूसरों के प्रति अन्याय करना है क्योंकि उसके भोग का अधिकार सभी को समान है। अन्याय चिरस्थायी नहीं होता है, अतः जब पूँजी का विनाश अनिवार्य है तो उसमें हम स्वयं ही समाज के हाथों में क्यों न समर्पण कर दें जो कि उसका समान वितरण करने के लिये तैयार है।

( २ ) दूसरे समुदाय का कहना है कि समाज को चाहिये कि

व्यक्ति से उसकी पूँजी बल-प्रयोग करके छीन ले। जब समाज की सम्पत्ति पर स्वार्थ पूर्ण व्यक्तिगत अधिकार अन्याय है, तो राज्य इस अन्याय का हनन बल-प्रयोग करके क्यों न करे।

( ३ ) तीसरे समुदाय की राय है कि पूँजीपतियों से पूँजी राज्य बदला या मूल्य देकर खरीद ले। यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो तीनों साधन असाधन प्रतीत होंगे। पहिला साधन तो बिल्कुल असम्भव है क्योंकि पूँजी संग्रह करना न्याय ही या अन्याय किन्तु किसी देश में भी विलासिता के दुग्ध-कुण्ड में स्नान करने वाले पूँजीपति स्वतः कठिनाइयों का अवाहन करने के लिये तैयार नहीं हो सकते हैं। दूसरा साधन भी वाञ्छनीय नहीं है क्योंकि सहसा बल-प्रयोग करना शत्रुओं की संख्या बढ़ाना होगा किन्तु सच्चे व कट्टर साम्यवादी शत्रुओं की वृद्धि से नहीं घबड़ाते हैं। वह क्रान्ति के पुजारी क्रान्तिमय परिवर्तनों में ही सफलता देखते हैं और यही कारण है कि दूसरे उपाय के मानने वालों की संख्या सम्भवतः अपेक्षाकृत सब से अधिक है। तीसरे उपाय को चरितार्थ करने के लिये अपार धन कहां से आवेगा और साथ साथ ही पूँजीपतियों को उनकी पूँजी के बदले में अपार धन देना वर्गभेद को दूसरे रूप में स्थायी करना होगा, अतः इस उपाय द्वारा साम्यवादी अपना धेय ही प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इस सम्यन्ध में काउत्सकी द्वारा वर्णित उत्तराधिकार का तरीका तर्क-संगत प्रतीत होता है। किसी भी पूँजीपति के मरने के बाद उसकी पूँजी का  $\frac{2}{3}$  भाग पुत्र को मिले और  $\frac{1}{3}$  राज्य को इस प्रकार कालान्तर में लगभग सम्पूर्ण पूँजी समाज के पास आ

सकती है। यह तरीका विधानात्मक होगा। इसका विधानात्मक तरीका समष्टिवाद (Collectivism) द्वारा वर्णित लम्बी आमदनी पर बहुत भारी कर लगाकर पूंजीसंग्रह को हतोत्साह करने का है। किन्तु विधान का छकड़ा बहुत धीरे धीरे चलता है और यह कभी वास्तविक स्थिति नहीं पैदा कर सकता है। यही कारण है कि मार्क्स के सच्चे चेले क्रांति में ही विश्वास करते हैं और समाजाधिकार का सबसे उत्तम तरीका बलप्रयोग ही समझते हैं।

### साम्यवाद और व्यक्ति की स्वतन्त्रता

कुछ लोगों की धारणा है कि साम्यवादी काल में जनता की स्वतन्त्रता बढ़ जावेगी और कुछ लोग सोचते हैं कि साम्यवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण करना चाहता है। वह उसे एक पिंजड़े में बन्द करना चाहता है। इन दोनों धारणाओं में कौन सत्य है? यह प्रश्न स्वतन्त्रता के अर्थ में भेद हो जाने के कारण उत्पन्न होता है। जो लोग स्वतन्त्रता का यह अर्थ समझते हैं कि व्यक्ति को यह अधिकार हो कि वह चाहे जो कार्य करे और चाहे जिसे न करे, उन्हें तो साम्यवाद की धारणा जो मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में राज के सुदृढ़ नियन्त्रण की समर्थक है, स्वतन्त्रता का अपहरण करती हुई दिखाई देता है किन्तु जो स्वतन्त्रता का अर्थ उन्नति से अधिक अवसर प्रदान करना समझते हैं उन्हें साम्यवादी-धारणा जो जन-साधारण की आर्थिक स्थिति को सुधार कर उसे उन्नति के समान अवसर प्रदान करना चाहती है, व्यक्ति की स्वतन्त्रता के क्षेत्र को विस्तृत करती हुई दिखाई देती

है। हमें स्वतन्त्रता के सकारात्मक अर्थ ही लेने चाहिये। व्यक्ति तभी पूर्ण-रूप से स्वतन्त्र है, जब उसको अपनी उन्नति का मार्ग निर्धारित करने में आवश्यक अड़चनें न पड़ रही हों। स्वतन्त्रता सकारात्मक पहलू पर दृष्टि डालने से हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि साम्यवादी शासनकाल में जन साधारण अधिक स्वतन्त्र होगा। साम्यवादी काल की स्वतन्त्रता के विषय में काडस्की का कहना है कि अपना काम चुनने की स्वतन्त्रता श्रमजीवियों को न अब है और न तब होने की आशा दिलाई जा सकती है। परन्तु व्यक्ति-धन-स्वामियों के शासन को समुदाय शासन से बदल लेने में तुम्हारे लिये बहुत लाभ की बातें हैं। तुम को मनमाना और मनमाने समय तक काम करने की स्वतन्त्रता नहीं मिलेगी, किन्तु शरीर व मस्तिष्क को घिसा डालने वाली गुलामी से मुक्ति पाना अवश्य तुम्हारे अधिकार में होगा।

### साम्यवादी अपनी सत्ता किस प्रकार सुदृढ़ करेंगे

प्रारम्भ में साम्यवादियों को पूँजीवाद की प्रतिक्रिया का सामना करने के लिये एक अत्यन्त सुदृढ़ नियन्त्रण से काम लेना होगा। इस सम्बन्ध में मि० डेलिसिनियर्स की राय में साम्यवादी राज्य के ये कर्त्तव्य होने चाहिये

( १ ) अपने शासन विभाग को ऐसे अधिकार दे रखना कि अशान्ति व गड़बड़ आदि के अंकुर फूटते ही वह उन्हें उखाड़ कर फेंक सके।

( २ ) अपने पास ऐसा अधिकार रखना जिससे जब चाहे किसी सभा या अखबार को बन्द कर सके ।

( ३ ) म्यूनिमपैलिटियों को नियुक्त करने का अधिकार अपने हाथ में ले रखें ।

( ४ ) प्रत्येक मनुष्य को जो बालक वृद्ध अथवा रोगी न हो उचित पुरस्कार पर सार्वजनिक कार्य करना पड़े और जो इस प्रकार का काम करने से इनकार करे, उसे बहुत थोड़ा धन देकर बाक़ी सब ज़ब्त करले ।

( ५ ) जो कोई बिना राज्य की आज्ञा से तीन महीने से अधिक विदेश में बिता दे उसके राष्ट्रीय अधिकार व सम्पत्ति ज़ब्त कर ली जाय ।

अन्य लेखकों ने भी बहुत से तरीके बताये हैं जिनमें शक्ति व हथियार प्रयोग उचित व अनिवार्य प्रदर्शित किया गया है । किन्तु इस प्रकार की सिद्धान्तिक धारणाओं में, रूस के बोलशैविकों ने बहुत कुछ परिवर्तन कर दिखाया है और उन परिवर्तनों का अभ्यास 'कम्युनिष्टवाद' नाम का प्रधान दिया जा चुका है । रूस का उदाहरण हमें यह बतलाता है हथियार के बजाय वास्तविकता के क्षेत्र में अन्य उपायों से ही काम लेना होगा । अतः हमारा कर्तव्य है कि हम शक्ति-प्रयोग का भरोसा छोड़ कर अन्य उपाय सोच निकालें जिनसे विरोधी दल की प्रतिक्रिया भी पूर्ण रूप से रोकी जा सके और एक बूँद मानव-रुधिर भी न बहाया जाय । इस सम्बन्ध में भी साम्यवादियों को ध्यान देने की आवश्यकता है ।

## साम्यवाद और श्रम का पुरस्कार

साम्यवादी शासनकाल में यों तो सभी व्यक्ति किसी न किसी रूप में श्रमिक होंगे किन्तु तो भी व्यक्ति के कार्य में अंग अवश्य ही रहेगा। कोई उच्च मासिक कार्य करेगा कोई अत्यन्त साधारण, कोई कलें बनायेगा और कोई केवल उन्हें बतलाये हुये तरीके से चलाने योग्य ही होगा। क्या योग्यता एवं कार्य के महत्व के अनुसार व्यक्ति के पुरस्कार में भी अन्तर होगा या नहीं? क्या हज्जाम व प्रधान मंत्री बराबर वेतन पायेंगे? प्रायः कहा जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार शुद्ध लोक-सेवा के भाव से कार्य करेगा और अपनी आवश्यकता के अनुसार पुरस्कार समाज के भंडार से ले लेगा। क्या प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकतायें समान होंगी? क्या उचित आवश्यकता व अनुचित आवश्यकता का निर्णय करनेवाला व्यक्ति ही होगा? यदि आवश्यकता का निर्धारक समाज होगा, तो उसे सब की आवश्यकतायें समान समझ कर सभी को समान पुरस्कार नहीं देना होगा? यदि आवश्यकता को निश्चित करने वाला स्वयं व्यक्ति ही होगा तो क्या वह सदा से चली आनेवाली स्वाभाविक स्वार्थ-भावना को साम्यवादी शासन काल में त्याग देगा? पुरस्कार का प्रश्न उठते ही इस प्रकार के असंख्य प्रश्न सामने आ उपस्थित होते हैं। सिद्धान्त रूप में बहुत से बाय पक्ष के साम्यवाधियों ने समान पुरस्कार तक की कल्पना कर डाली है किन्तु अधिकांश की राय यही है कि आर्थिक समानता किसी काल में भी नहीं स्थापित की जा सकती है। डा० मेनर

इस समानता को चार कारणों से असम्भव मानते हैं । ( १ ) शासकों में भी विशिष्टता ( २ ) व्यक्तियों के ज्ञान में अन्तर ( ३ ) कार्यों के परिणाम व मूल्य में अन्तर ( ४ ) शिल्पियों व कला-कुशलों की आवश्यकता । वास्तव में पुरस्कार-दान के प्रश्न पर प्रत्येक देश के साम्यवादियों ने कुछ न कुछ कहा है । कोई पक्ष में है तो कोई विपक्ष में । मि० ब्लेच फॉर्ड ने सम-पुरस्कार दान का समर्थन बहुत जोरों से किया है, किन्तु मि० सिडनीवॉल, मि० एच० जी० वेल्स, मि० रैम्जे मेकडानल्ड, मि० एफ० डब्ल्यू०, मि० जी० वेट आदि साम्यवादी नेता इसके विपक्ष में हैं । जहाँ तक देखा गया है सिद्धान्त रूप में चाहे जो कोई सम-पुरस्कार दान की सम्भावना साबित कर दे, पर वास्तविकता के क्षेत्र में यह सिद्धान्त असम्भव ही सिद्ध होंगे । पिछली शताब्दी में जर्मनी के विकट साम्यवादी वार्बार्त्स ( Vorwarts ) नामक एक साम्यवादी समाचार पत्र निकालते थे । उस दल का अधिकांश भाग सम-पुरस्कार के पक्ष में था । विरोधियों ने कहा कि इसे अपने प्रेस में ही लगा कर देख लिया जाय । प्रधान सम्पादक जो कि स्वयं एक प्रसिद्ध साम्यवादी था ३६० पौंड वेतन पाता था । जब कि बेचारे कम्पोज़ीटरों को केवल ५० पौंड मिलते थे । लोगों ने चाहा कि सम्पादक व कम्पोज़ीटरों का वेतन समान कर दिया जाय किन्तु सम्पादक ५० पौंड पर यह कह कर काम करने के लिये तैयार न हुआ कि मेरे कार्य का मूल्य अधिक है । इसी सम्बन्ध में एक प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि जब साम्यवादी शासनकाल में वर्ग-भेद नहीं रहेगा, जब लोगों को मनचाहा व्यवसाय करने की सुविधायें दी

जायँगी तो गन्दे काम कौन करेगा और क्या गन्दे काम करने वालों को इसी प्रकार कम वेतन मिला करेगा। इस सम्बन्ध में काल मार्क्स स्वयं कहते हैं कि साम्यवादी शासन-काल में भंगी व डाक्टर को बराबर वेतन मिलेगा। अन्तर केवल इतना होगा कि डाक्टर को सुबह से शाम तक कार्य करना होगा किन्तु भंगी का काम करनेवाला व्यक्ति घंटे दो घंटे भाड़ फटकार कर दिन भर के लिये निश्चित हो जायगा। इसके सिवा गन्दे काम करने वाले अधिक सम्मान की दृष्टि से देखे जायँगे। साथ ही साथ साम्यवादी विज्ञानवादी भी हैं और वह समाज के गन्दे काम करने के लिये मशीनें ईजाद कर लेने की पूर्ण आशा रखते हैं।

वास्तविकता यह है कि साम्यवाद शब्द सामने आते ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि सबों को सामान्यरूप से शारीरिक व मानसिक उन्नति करने के सुविधे दिये जायँगे, तो रुखे, गन्दे, अधिक परिश्रम के तथा भयावह धन्धे कौन करने जायँगा? क्या काम चाहने-वालों के दल रुचिकर, हलके कम परिश्रम के, तथा भय रहित कार्यों के आफिसरों पर ही प्रार्थना पत्र लेकर न चढ़ दौड़ेंगे। इन प्रश्नों का उत्तर रेनार्ड और उसके पक्ष में साम्यवादी इस प्रकार देते हैं— निःसंदेह हम सबको समान रूप की उन्नतियाँ करने का अवसर देंगे या हम ( १ ) आरम्भिक पाठशालाओं में ही इस बात को भली भाँति जाँच कर लेंगे कि किस बालक का स्वाभाविक भुकाव किस शास्त्र अथवा कला की ओर है; प्रकृति के भंडार से वह किस विषय की प्रतिभा लेकर अवतीर्ण हुआ है। जिसके स्वभाव का भुकाव जिस

विषय की ओर दिखाई देगा, जिसमें जिम विषय की प्रतिभा पाई जायगी उसको उसी शास्त्र या कला की शिक्षा दी जायेगी फिर उसको छोड़कर दूसरा कार्य स्वीकार करने की इच्छा किसी का क्यों होगी ? ( २ ) मनुष्य की रुचियाँ एवं प्रवृत्तियाँ भिन्न भिन्न हैं । कुछ मनुष्य ऐसे भी होते हैं जिन्हें केवल वे ही काम पसन्द आते हैं जिनमें साहस से काम लेना पड़े, जिनमें प्राणों तक की बाज़ी लगाना पड़े । मस्तिष्क का काम करने की अपेक्षा बहुतेरे शारीरिक श्रम को रुचि पूर्वक स्वीकार कर लेंगे । ( ३ ) हम लोग ऐसी मशीनों का आविष्कार कर लेंगे जिनसे अधिक भयावह कार्य कम भयावह हो जायेंगे और मनुष्य के करने के कामों में बहुत कमी हो जायगी । ( ४ ) जो लोग अनाकर्षक धन्धे स्वीकार करेंगे उन्हें या तो औरों से अधिक पारिश्रमिक दिया जावेगा या उनके काम करने के घंटे अपेक्षाकृत बहुत कम होंगे । उनकी आमदनी इतनी होगी जिससे वे ऐसे ठाठ बाट से रह सकेंगे कि उन्हें देख कर दूसरों के मुँह में पानी भर आयेगा । इतना सब कुछ होने पर भी यदि कोई राज्य की अवज्ञा कर ही दे तो साम्यवादी राज्य उससे कैसे निपड़ेगा ? इस जिज्ञासा का उत्तर रेनार्ड आदि के उक्त आशावाद में नहीं मिलता है तथा अन्यान्य प्रमाणों से यही निश्चित होता है कि अपने अवशकारी विद्रोही को वह निर्भय होकर दंड देगा । मि० डेसली नियर्स की भविष्य युक्ति के अनुसार साम्यवादी राज्य में जेलखानों का रूप वर्तमान देहाती मकानों जैसा होगा । कैदी अपने मन का खाना खायेगा, कपड़े पहिनेगा, स्नेही मित्रों से एकान्त में मिल सकेगा किन्तु जान पड़ता है कि यह सब कुछ सदा-

चार के उल्लंघन करने वालों के लिये होगा । ( ५ ) साहित्य और पठन-पाठन का कार्य करने की योग्यता का मान इतना ऊँचा कर दिया जावेगा कि अत्यन्त उच्च-श्रेणी के प्रतिभाशाली व्यक्तियों के अतिरिक्त और कोई इसका अधिकारी ही न हो सकेगा ।

### साम्यवाद और कुटुम्ब

साम्यवादी वर्तमान गृहस्थ-जीवन को भी दूषित बताते हैं । प्रत्येक कुटुम्ब में स्त्रियों का जीवन प्रायः गिरा हुआ है । वे अपनी जीविका के लिये पति के आश्रित रहनी जाती हैं फलतः उनको शारीरिक व मानसिक किसी प्रकार की स्वतंत्रता नहीं प्राप्त है । विवाह के सम्बन्ध में भी पुरुषों की अपेक्षा कम अधिकार हैं । बहुत से देशों में तो वे केवल विलासिता की सामग्री अथवा वच्चा पैदा करने की मशीन समझी जाती हैं । न वे किसी राजनैतिक या सामाजिक कार्य में भाग ले सकती हैं और न अपने विचार ही स्वतंत्रता पूर्वक प्रकट कर सकती हैं । उनका सम्बन्ध केवल चूल्हा-चक्की से ही बताया जाता है । उनको समान शिक्षा प्राप्त करने व अपनी जीविका के लिये व्यवसाय करने की आज्ञा देने में बहुत से पुरुषों को यह भय दिगवाई देता है कि शिक्षित हो जाने पर वे अपनी जीविका स्वयं उत्पन्न करते हुये हमारी अनुचित आज्ञाओं का सतर्क उल्लंघन करने लगेंगी । कौटुम्बिक जीवन को इस प्रकार दूषित देख कर साम्यवादी इसके सुधारने का भी विचार कर रहे हैं । वे मुख्य कर गृहस्थ-जीवन का अधिकार, इन तीन क्षेत्रों में करने का विचार करते हैं ।

आर्थिक-क्षेत्र में वे यह नहीं चाहते हैं कि स्त्रियाँ अपनी जीविका

के लिये स्वार्थी पुरुषों के आधीन हों। वह पुरुषों की भाँति प्रत्येक कार्य करने योग्य बनाई जायँ और उनको अपनी इच्छानुसार अपनी जीविका के लिये कोई न कोई व्यवसाय चुन लेने की समान स्वतंत्रता रहे। निस्सन्देह यह भयावह कार्य करने को प्रोत्साहित न की जायँ। सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में समान अधिकार प्राप्त होने पर तथा अपनी जीविका के लिये किसी दूसरे पर निर्भर न होने पर वह अपने विचार स्वतंत्रता से प्रकट कर सकेंगी। राष्ट्र की उन्नति में सहयोग देंगी और इस प्रकार अपने विकास की ओर अग्रसर होती जायँगी। वह अपने पति से प्रेम व श्रद्धा इसलिये करेंगी कि उनका सच्चा प्रेम उन्हें ऐसा करने के लिये बाध्य करेगा न कि इसलिये कि वह उसकी कमाई पर अपनी जीविका के लिये निर्भर होंगी।

विवाह के क्षेत्र में साम्यवादी सच्चे प्रेम का खेल देखना चाहते हैं। विवाह जैसा कि बहुत देशों में पाया जाता है माता पिता के अधिकार में न होकर युवक एवं युवती के हाथ ही में होंगे। प्रत्येक युवक अपनी इच्छानुसार अपनी सच्ची प्रेयसी से विवाह करने के लिये स्वतंत्र होगा और उनका यह सम्बन्ध किसी धार्मिक बन्धन से नहीं बरन प्रेम की सुदृढ़ गाँठ से बँधा होगा। पत्नी को पति की इच्छानुसार चलने के लिये जीविका इत्यादि के आर्थिक बन्धन न होने के कारण स्त्रियाँ सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में स्वतंत्रता पूर्वक कार्य करती हुई पाई जावेंगी प्रेम में शिथिलता आते ही उनके वैवाहिक बन्धन विच्छिन्न करने का पूर्ण अधिकार होगा। यद्यपि तलाक का दोनों को समान अधिकार होगा तो भी सरकार किसी तलाक को पहिली ही दर-

ख्वास्त आते ही शीघ्र स्वीकार नहीं कर लिया करेगी क्योंकि साधारण मनोमालिन्य शीघ्र ही विलीन हो जाता है। किन्तु जब किसी प्रार्थना-पत्र को आये हुये निश्चित काल व्यतीत हो जायेगा इस बीच में प्रार्थी अपना प्रार्थना पत्र वापस नहीं लेलेगा तो वह तलाक़ स्वीकार करली जाया करेगी।

साम्यवादी सरकार दम्पति से उनके बच्चे छीन कर उन्हें वात्सल्य के अवर्णनीय आनन्द से वन्चित करना पसन्द नहीं करेगी किन्तु उन्हें पालन-पोषण व शिक्षा सम्बन्धी अनावश्यक तकलीफों से अवश्य बचायेगी। स्त्रियों को बच्चा उत्पन्न होने के पहिले व पीछे पूरी तनख्वाह पर पर्याप्त छुट्टी दी जाया करेगी। फिर वह बच्चों राज्य की ओर से नियुक्त दत्त दाइयों को सौंप दिये जाया करेंगे। व्यक्ति को यह अधिकार नहीं होगा कि वह अपने बच्चे को पढ़ाये अथवा अशिक्षित रखे क्योंकि उनके पठन-पाठन का प्रबन्ध राज्य की ओर से किया जावेगा।

## साम्यवाद और धर्म

प्रत्येक देश में धर्म के कुछ ठेकेदार पाये जाते हैं कुछ पन्डे, पुजारी कहीं पादरी व पोप कहीं मौलवी खलीफ़ा उसका ठेका ईश्वर के यहाँ से लेकर आये हुये प्रतीत होते हैं इन लोगों के धर्म के विषयों में परिवर्तन करने का, नियमों का उल्लंघन करने वाले को दंड देने का तथा अन्य सभी धार्मिक बातें निर्णय करने का मौरूसी पट्टा प्राप्त प्रतीत होता है। यह लोग सभी देशों में अपनी जीविका के लिये धनिकों के

आश्रित रहते हैं अतः वे धर्म को सदा उनके हित की ओर मोड़ने के लिये तैयार रहते हैं। फलतः यह धार्मिक-पाखंड जिसमें वास्तविक सिद्धांतों की अपेक्षा ढोंग, दिखावा एवं स्वार्थ अधिक निहित रहता है पूँजीवाद को चिरस्थायी करने में प्रयुक्त किया जाता है। धर्म की रक्षा के ठेकेदार सदैव अमीरों की अनुग्रह के भूखे रहने के कारण निर्धन श्रमिकों के हितों का चिन्तन स्वप्न में भी नहीं करते हैं। इस प्रकार वर्तमान धार्मिक-व्यवसाय क्रांति में बाधा डाल रहा है अतः इस प्रकार की धार्मिक ठेकेदारी बल प्रयोग से विनष्ट कर दी जायगी। दूसरा दोष जो साम्यवादियों को धर्म में दिखाई देता है वह है उसका विज्ञान-विराधी प्रभाव यह सभी देशों में देखा जाता है कि धार्मिक शिक्षाएँ एवं धार्मिक-विश्वास विज्ञान की समुचित उन्नति में बाधा डालते हैं। अतः वे चाहते हैं कि धार्मिक-बन्धन ढीले कर दिये जायँ और व्यक्ति को अपना धर्म स्वयं निश्चित करने का पूर्ण अधिकार हो। इस प्रकार साम्यवादी-शासन काल में जब कि समाज के लगभग सभी कार्य सरकार के हाथ में होंगे और उनकी उन्नति के लिये सरकार ज़मीन व आममान एक करने के लिये तैयार रहेगी उस समय धर्म व्यक्तियों का वह कार्य क्षेत्र होगा जिसमें समाज बिल्कुल हस्तक्षेप नहीं करेगा।

### साम्यवाद और साहित्य

प्रारम्भ में साम्यवादी साहित्य पर अत्यन्त सुन्दर नियंत्रण रखेंगे और केवल साम्यवादी लेखकों को ही प्रोत्साहन दिया जायगा किन्तु जब पूँजीवाद की प्रतिक्रिया समाप्त हो जायगी तब नियंत्रण अपेक्षा-

कृत कुछ शिथिल हो जायगा। प्रकाशन एवं विक्रय का सम्पूर्ण भार सरकार पर ही होगा। लेखकों को समाचार-पत्रों में व्यक्तियों की समालोचना व आलोचना करने की पूर्ण स्वतंत्रता होगी और समाज-सेवा का कार्य करने वालों को अपने आचरण की आलोचना का उत्तर उन्हीं पत्रों द्वारा देना होगा। सरकार स्वयं एक समाचार-पत्र का संचालन करेगी और इस राजकीय-पत्र का ध्येय समाजसेवा ही होगा।

### साम्यवाद व सेना

साम्यवादियों का सिद्धांत तो यह है कि संसार की वस्तुओं गलाकर किसानों के औजार बनाये जायें। किन्तु वह यह भी समझते हैं कि ऐसा समय तो बहुत ही सुदूर भविष्य के गर्भ में निहित है। जब तक संसार के किसी एक देश में सैनिक अनुशासन एवं सैनिक संगठन विद्यमान है, जब तक एक देश भी साम्राज्यवादी भिद्धान्तों का पक्षपाती रहेगा तब तक किसी एक देश में सैनिक व्यवस्था को विनष्ट कर देना मूर्खता की बात होगी। वह सैनिक संगठन को एक आवश्यक दोष समझते हैं वह उस काल तक शस्त्र-युक्त सेना रखना व सर्वसाधारण को सैनिक शिक्षा देना आवश्यक समझते हैं जब तक विश्व में मार्क्सभौमिक राष्ट्रीयता स्थापित न हो जाय।

## साम्राज्यवाद ( Imperialism )

साम्राज्यवाद के सम्बन्ध में तीन प्रकार की धारणायें हैं—

( १ ) प्राकृतिक ( २ ) ऐतिहासिक ( ३ ) मार्क्सवादी ।

साम्राज्यवाद की प्राकृतिक धारणा के अनुसार साम्राज्यवाद जीवन संग्राम ( Struggle of life ) के प्राकृतिक नियम की एक स्थिति है । अतः इस धारणा के मानने वालों को साम्राज्यवाद केवल मानव-समाज में ही नहीं बरन् जानवर, कीड़ों और पेड़ों तक में दिखाई देता है । यह धारणा साम्राज्यवाद शब्द के अत्यन्त विस्तृत अर्थ लेती है अतः यह राजनैतिक क्षेत्र में माननीय नहीं है ।

ऐतिहासिक धारणा के प्रवर्तकों के अनुसार साम्राज्यवाद केवल मानव-समाज की वस्तु है । किन्तु यह इतिहास की प्रत्येक दशा में पाई गई है जैसा कि प्रत्येक काल में भिन्न-भिन्न राष्ट्रों तथा राजाओं के आक्रमणों तथा विजयों से प्रकट होता है । इस धारणा के अनुसार किसी प्रकार की आक्रमणकारी नीति साम्राज्य-वद्ध है । यह दृष्टिकोण भी शब्द को बहुत विस्तृत भाव देता है ।

कार्लमार्क्स का स्कूल साम्राज्यवाद को एक आर्थिक वस्तु समझता है । जो कि केवल पूँजी-प्रथा के प्रचलित होने के कारण उत्पन्न हुई केवल वर्तमान काल की वस्तु है अतः इस समुदाय का कहना है कि प्राचीन काल तथा मध्य-काल में संसार में साम्राज्यवाद का नाम तक

न था । इस धारणा के अनुसार सब प्रकार के आक्रमण साम्राज्यवादी नहीं हैं । उदाहरणार्थ उन्नीसवीं शताब्दी की जर्मनी व इटली की लड़ाइयाँ साम्राज्यवादी नहीं थीं वे तो राष्ट्रीय ही थीं । प्राचीन काल के सम्राट किसी देश को अपने राज्य में मिलाकर वहाँ की जनता को अपने राष्ट्र की जनता के समान समझने लगते थे । अतः उनकी नीति को शब्द के वास्तविक अर्थ के अनुसार साम्राज्यवादी नहीं कहा जा सकता है । साम्राज्यवाद की प्रादुर्भूति उसी समय होती है जब एक राष्ट्र अपनी सीमा के बाहर के देशों को निश्चित आर्थिक-शोषण की दृष्टि से प्रभावित करने का निश्चित ध्येय बनाता है ।

मार्क्स समुदाय के सभी व्यक्ति इस बात में एक राय हैं कि साम्राज्यवाद एक वह आर्थिक वस्तु है जिसकी जान शोषण है, और यह केवल वर्तमान पूँजीवाद समाज की एक विशेषता है । किन्तु इसकी प्रादुर्भूति किस प्रकार हुई, इस बात पर उनमें मतभेद हैं । लेनिन के कथनानुसार साम्राज्यवाद पूँजीवाद की सीढ़ी तक अन्तिम डर्रेडा है । और वह डर्रेडे जिससे होकर वहाँ तक पहुँचा जा सकता है । ( १ ) पूँजी का केन्द्रित होना । ( २ ) उत्पादित वस्तुओं पर एकाकी अधिकार होना । ( ३ ) बैंकों का प्रसार और आर्थिक संघों का निर्माण ( ४ ) वस्तु के बजाय अर्थ का नियति ( Import ) ( ५ ) सम्पूर्ण पृथ्वी को अपने अपने प्रभावों के अनुसार बाँटने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय संघों का निर्माण ( ६ ) सारी पृथ्वी का पूँजीवाद राष्ट्रों में बाँट जाना यह अन्तिम डंडा ही साम्राज्यवाद है । एक अन्य रूसी विद्वान् का कहना है कि साम्राज्यवाद औद्योगिक देशों द्वारा कृषक देशों पर अधिकार

कर लेने का परिणाम है, क्योंकि कृपक देश अस्त्र शस्त्र में निर्बल पड़ते हैं ।

तो साम्राज्यवाद की संतोषजनक परिभाषा क्या हुई ? प्राकृतिक तथा ऐतिहासिक धारणाओं की अपेक्षा मार्क्स समुदायी धारणा अधिक संतोषप्रद प्रतीत होती है । किन्तु यह धारणा भी संकीर्ण है क्योंकि साम्राज्यवाद को यह केवल पूँजी से सम्बन्धित वर्तमान काल की वस्तु कहलाता है । मार्क्स समुदायी इस बात पर जोर देने में कि दूसरों का शोषण ही साम्राज्यवाद का सार है, बिल्कुल ठीक है, किन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं जँचता है कि यह शोषण सदा आर्थिक ही होना चाहिये । यह सत्य है कि अक्रिंश में साम्राज्यवादियों द्वारा किया गया शोषण प्रायः आर्थिक प्रकृति का रहा है । किन्तु इस बात के उदाहरणों का भी अभाव नहीं है जबकि पराजित राष्ट्र का शोषण आर्थिक शोषण न होकर सैनिक, धार्मिक अथवा सांस्कृतिक शोषण रहा है । अतः हम कह सकते हैं कि साम्राज्यवाद एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र पर शोषण की दृष्टि से अधिकार कर लेने की नीति है । यह अधिकार सदा विजय के रूप में नहीं होता है और शोषण प्रायः आर्थिक किन्तु सभी प्रकार का हो सकता है ।

### वर्तमान साम्राज्यवाद का संक्षिप्त इतिहास

साम्राज्यवाद के इतिहास को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं पहला भाग व्यापार से सम्बन्ध रखता है । अतः साम्राज्यवाद की उत्पत्ति पन्द्रहवीं शताब्दी में होती है और १८वीं शताब्दी तक यह

व्यापारिक रूप ही लिये रहता है। इसका प्रारम्भ १५वीं शताब्दी की बड़ी भौगोलिक खोजों के साथ होता है। इस काल में उन्नतिशील सम्राटों को अपनी विशाल सेना का वेतन देने के लिये तथा बढ़ते हुए व्यापार के लिये सोने चाँदी की आवश्यकता पड़ी अतः उन लोगों ने चीन व भारत इत्यादि देशों को जिन्हें उन्होंने सोने चाँदी में अधिक धनवान समझ रक्खा था, नये नये रास्ते ढूँढने का प्रयास किया जिसके परिणाम स्वरूप अमरीका का पता लगा है और अफ्रीका का चक्कर काट कर भारत आने का मार्ग मालूम हुआ। इन खोजों में स्पेन व पुर्तगाल आगे थे और इंग्लैंड, फ्रान्स, हालैंड इत्यादि उनके पीछे गये। धीरे-धीरे इन राष्ट्रों ने अमरीका तथा एशिया के बहुत से भागों में उपनिवेश बसाये और इस प्रकार प्रत्येक यूरोपीय देश एक साम्राज्य का केन्द्र हो गया उपनिवेश केवल आर्थिक-लाभ दृष्टि से बसाये गये थे अतः पूरा २ लाभ उठाने के लिये उपनिवेशों से इस प्रकार की शर्तों की गई थीं कि वे अपने शासक के देश का ही कपड़ा, शराब इत्यादि मोल लें और अपना कच्चा माल जैसे तम्बाकू; रुई उन्हीं को दें और दोनों देशों के बीच का सारा व्यापार उन्हीं के जहाज़ों द्वारा हो। इन शर्तों के कारण उपनिवेशों को काफी हानि उठाना पड़ती थी किन्तु शासक देशों का कहना था कि इसके बदले में हम तुम्हारी रक्षा के लिये काफ़ी खर्च करते हैं अतः हमारी व्यापारिक सुविधायें न्यायपूर्ण हैं। यह प्रथा १८वीं शताब्दी के अन्त तक चलती रही, किन्तु अचानक भूचाल आ गया। अमरीका में स्वतन्त्रता का युद्ध हुआ और इंग्लैंड को अपने अमरीकन उपनिवेशों से हाथ धोना पड़ा तदनन्तर फ्रान्स की

क्रान्ति हुई और क्रमशः फ्रान्स, हालैंड स्पेन सभी के साम्राज्य नष्ट हो गये ।

( २ ) इसके बाद का ज़माना व्यक्तिवाद का ज़माना था । साम्राज्यों के विनष्ट हो जाने पर लोगों ने यह सोचा कि आर्थिक-दृष्टि से उपनिवेश कोई अच्छी वस्तु नहीं है । फ्रान्सीसी अर्थ-शास्त्र वेत्ता टर्गोट ( 'Torgot' ) ने घोषित कर दिया कि उपनिवेश उन फूलों की तरह हैं जो पकने पर पालने वाले पौधे से गिर जाते हैं । एडिनिस्मिथ तथा अन्य अर्थ-शास्त्र के विद्वानों ने कहा कि उपनिवेशों से इंगलैंड को हानि रही है । बैन्यम और मिल इत्यादि विचारशील विद्वानों ने साम्राज्यवाद पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की ओर से हमला किया अतः थोड़े से काल के लिये यूरोपीय राष्ट्रों ने अपनी साम्राज्यवादी नीति स्थगित कर दी । इंगलैंड में उपनिवेशों के पक्ष में एक बड़ा गिरोह खड़ा हो गया था, फलतः इसी काल में आस्ट्रेलिया, कनाडा दक्षिणी अफ्रीका को उपनिवेशकीय स्वतन्त्रता प्राप्त हुई थी । यह व्यक्तिवाद की भावना १६ वीं शताब्दी के मध्य तक दो चौथियाई भागों में पाई जाती थी ।

( ३ ) पुनर्जीवित साम्राज्यवाद—किन्तु १८७५ के लगभग धारा ने फिर पलटा खाया । इस समय युरोप के सभी देशों में वैज्ञानिक क्रान्ति मची हुई थी, अतः सभी युरोपीय-राष्ट्र एक सा सामान पैदा कर रहे थे और सभी का उत्पादन अपनी आवश्यकता से अधिक था । फलतः विदेशी बाज़ार पर अधिकार करने के लिये कड़ी प्रतियोगिता पैदा हो गई और इस प्रतियोगिता की भावना ने साम्राज्य स्थापित करने की भावना को प्रोत्साहन दिया क्योंकि एक पराजित देश विजयी के लिये सबसे सुरक्षित

बाज़ार का काम देता था इसी प्रकार कच्चे माल की आवश्यकता तथा वन्दरगाहों की आवश्यकता का भी यही परिणाम हुआ। इस पुनर्जीवित साम्राज्यवाद का पहला परिणाम यह हुआ कि यूरोप के राष्ट्रों ने अफ्रीकाको आपस में विभाजित कर लिया और फिर उन्होंने अपना ध्यान चीन की ओर लगाया। १९ वीं शताब्दी के अन्तिम काल में संयुक्त राज्य अमरीका ने अपने पड़ोसी दक्षिणी अमरीका के प्रति साम्राज्यवादी नीति अख्यार की।

## साम्राज्यवादी नीति में किन लोगों का हित है !

यों तो साम्राज्यवाद निर्माता राष्ट्र विशेष कहे जाते हैं किन्तु वास्तव में वह कुछ विशेष व्यक्तियों के परिश्रम का फल होता है। रई और लोहे के कारखानों के मालिक मिट्टी का तेल, रबर काफ़ी मन्खन इत्यादि मंगाने वाले, रुपये वाले, जहाज़ी तथा उपनिवेशक तथा क़ौज़ी अफ़सर इत्यादि व्यक्तियों के हितों का सम्बन्ध साम्राज्यवाद से है। यही व्यक्ति सरकार को साम्राज्यवादी नीति का अनुकरण करने पर बाध्य करते हैं, साधारण जनता को ये लोग चातुर्य पूर्ण प्रोपेगेंडा से साम्राज्यवाद के पक्ष में कर लेते हैं। उन बेचारों को आत्मरक्षा, राज-भक्ति, देश प्रेम इत्यादि की आवश्यकता से उस रास्ते को बढ़ा ले जाया जाता है किस्लिंग ऐसे लेखकों तथा कुछ उपदेशकों ने साम्राज्यवाद को आमरण का चोगा पहना दिया है। उनका कहना है कि हमारा असभ्य एवं दलित देशों पर अधिकार करके उन्हें उठाना धर्म है।

## साम्राज्यवाद के तरीके

साम्राज्यवादी जहाँ जैसी परिस्थिति देखते हैं वहाँ वैसा ही तरीका प्रयोग कर लेते हैं। अफ्रीका तथा दक्षिणी अमरीका के पिछड़े हुये असभ्य तथा विररे बसे हुये भागों में साम्राज्यवादियों ने धीरे धीरे घुसकर साम्राज्यवादी-सत्ता स्थापित करने का तरीका रक्खा है। प्रायः रास्ते धर्मो-पदेशकों ने साफ़ किये और शासकवाद का रंगमंच पर आये। किन्तु भारत तथा चीन जैसे घने बसे हुये तथा सभ्य देशों में साम्राज्यवाद व्यापारी का चोगा पहिन कर घुसा था और बाद का बन्दर की नीति से विजय प्राप्त की। अफ्रीका के उत्तरी देश में साम्राज्यवाद का तरीका आर्थिक रहा है। मोरक्को, ट्यूनिस, मिश्रइत्यादि के अपव्ययी राजाओं को रुपया उधार देते गये और जब वह कर्ज़ा एक बहुत बड़ी तादाद पर पहुँच गया तो सम्बन्धित यूरोपय शक्तियां ने पहले आर्थिक और फिर राजनैतिक अधिकार कर लिया। संयुक्त राज्य अमरीका का साम्राज्यवादी नीति भी आर्थिक ढंग की था। उसने अमन निर्वन पड़ासी का कारखाने खोलने का लय रुपया उधार दिया। उसके मुख्यमुख्य कारखानों में सभी बन गया और इस प्रकार उन पर आर्थिक अधिकार कर लिया। आर्थिक साम्राज्यवाद से किसी राष्ट्र की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं होता है यह तो निर्बल राष्ट्र का आर्थिक एवं व्यापारिक पहलू संशोधन किया करता है।

## साम्राज्यवादी नीति के कारण

प्रायः साम्राज्यवादी सरकार निम्न लिखित उद्देशों से साम्राज्यवादी नीति का पालन करती है।

( १ ) उनका पहला ध्येय अपने देश में आवश्यकता से अधिक बनने वाले सामान के लिये मनचाही बाज़ार प्राप्त करना रहता है । यह विश्वास किया जाता है कि जिस देश पर हमारा अधिकार होगा वहाँ से व्यापार करने में हमें सुविधायें रहेंगी ।

( २ ) दूसरा ध्येय कच्चा माल प्राप्त करना है । यदि किसी औद्योगिक देश का किसी ऐसे देश पर अधिकार हो जाता है जहाँ कपास, रबर, तेल इत्यादि अधिकता से पैदा हो रहे हैं तो उसे यह वस्तुयें मिलने में सुविधा रहती है ।

( ३ ) तीसरा ध्येय पराजित देश में अपने देश के महाजनों के यहाँ व्यर्थ जमा रुपये का लगाना होता है ।

( ४ ) चौथे उपनिवेश साम्राज्य की बढ़ती हुई जनसंख्या को आराम से बसने का स्थान होते हैं । अगर किसी देश के पास उपनिवेश नहीं हैं तो उसकी बढ़ी हुई जनसंख्या अन्य देशों को चली जाती है और वहाँ कालान्तर में अन्य राष्ट्र के नागरिक होकर अपने प्रारम्भिक देश में सदा के लिये विलग हो जाते हैं ।

( ५ ) पाँचवाँ आध्यात्मिक ध्येय है । कहा जाता है कि शक्तिशाली साम्राज्यवादी राष्ट्र, सभ्य तथा उन्नतिशील होते हैं । अतः वे सभ्य देशों को अपने अधिकार में करके वहाँ की जनता को भी अपने प्रभाव से सभ्य बना देते हैं । किसी देश पर बिना राजनैतिक अधिकार के सभ्यता का प्रभाव डालना सहज नहीं है ।

यदि हम साम्राज्यवादी शोषण के कारणों को ध्यान पूर्वक देखें तो वह जंचते हुये नहीं प्रतीत होते हैं । व्यापार तथा जन-संख्या के

प्रश्न स्वार्थ पूर्ण हैं तथा परिचित देश को सभ्य बनाने का बहाना निरा बहाना ही है। दूसरे की स्वतंत्रता का अपहरण करके स्वार्थी साम्राज्यवादी राष्ट्र वहाँ की परम्परा तथा संस्कृति को विनष्ट कर देते हैं, व्यापार द्वारा आर्थिक शोषण देश को ज़ाहिर कर देता है। इसके सिवाय पराजित राष्ट्रों को परतंत्रता प्रिय हो ही नहीं सकती है अतः वह स्वतंत्रता का प्रयत्न किया करता है जिसके परिणाम में दोनों देशों के वीरों के रुधिर की नदियाँ बहने लगती हैं। इतिहास इस बात का सान्नी है कि संसार की लगभग सभी बड़ी लड़ाइयाँ साम्राज्यवादी नीति का परिणाम हैं।

यूरोप की साम्राज्यवादी नीति का सब से बड़ा परिणाम १६१४ से १८ के महायुद्ध के रूप में देखने को मिला। यह बढ़ते हुये साम्राज्यों का संघर्ष था। इस युद्ध में जो हत्याएँ हुईं और राष्ट्रों का जो दुःख उठाना पड़े उनके सामने साम्राज्यों या उपनिवेशों से होने वाले लाभ कोई मूल्य नहीं रखते हैं। संसार के जन साधारण का विचार पलट गया और पराजित देशों के उपनिवेशों को विजेताओं ने अपने राज्य में न मिलाकर उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय संघों की सरंक्षता में रखकर साम्राज्यवादी नीति के परित्याग का आभास दिया। किन्तु अब लोग धीरे धीरे महासमर की यातनायें भूलकर अपनी निन्दनीय साम्राज्यवादी नीति का पुनः अनुकरण करने लगे हैं। सन् १९३५ ई० में इटली ने अबीसीनिया की स्वतंत्रता का अपहरण कर लिया और इससे पहले जापान ने चीन से मंचूरिया छीन लिया था किन्तु संसार के जन साधारण साम्राज्यवाद के विरुद्ध हैं और यह नीति संसार के प्रत्येक भाग

में घृणा की दृष्टि से देखी जाती है। साम्राज्यवाद के सब से बड़े शत्रु अन्तर्राष्ट्र-वादी हैं।

साम्राज्यवादी नीति का सब से प्रसिद्ध एवं स्पष्ट समर्थक इटली का माकिया वाली हुआ है। उसकी प्रसिद्ध पुस्तक “राजकुमार” (The Prince) बहुत से लोगों ने पढ़ी होगी। इस पुस्तक में उस नीति का बड़ा अच्छा वर्णन है जो अन्य राष्ट्रों पर अपना अधिकार दृढ़ रखने की आकांक्षा रखनेवाले शासकों को अख्तियार करनी चाहिये। उक्त पुस्तक के निम्नलिखित अवतरणों को, जिन्हें हम यहाँ पर स्वाधीनता के सच्चे पुजारी टैरेन्स मैक्स्विनी की ‘स्वाधीनता के सिद्धान्त’ नामक पुस्तक से उद्धृत करते हैं, देखकर पाठक भली प्रकार समझ जायेंगे कि साम्राज्यवादी नीति किस प्रकार काम में लाई जाती है। मैक्स्विनी साहब कहते हैं:—

“हमसे शैतान, उसकी शान और उसके कामों से दूर रहने को कहा जाता है। वही बात साम्राज्यवाद के लिये भी लागू है। पहले विदेशी शासक के आक्रमण की बात सोचिये। माकियावेली कहता है ‘आक्रमण की साधारण रीति यह है कि ज्योंही विदेशी राजा किसी प्रदेश पर आक्रमण करता है त्योंही वहाँ के दुर्बल और कुतन्त्र निवासी उसके साथ मिल जाते हैं। कारण यह है कि उनमें अपने वर्तमान प्रभुओं पर ईर्ष्या और द्वेष का भाव रहता है। ऐसे छोटें छोटें राजवाड़ों को अपनी ओर करने के लिये कोई कसर नहीं उठा रखनी चाहिये। वश में आते ही यह लोग मिलकर आक्रमणकारी के साथ एक हो जाते हैं। विजयी राजा को विशेष ध्यान इस बात का रखना चाहिये कि यह कभी

शक्तिशाली न बन जायँ । इनके हाथ में विशेष सत्ता भी नहीं दी जानी चाहिये । ऐसा करने से विजयी राजा बड़ी आसानी के साथ अपने सैन्य-बल और अपनी ओर किये गये देश-द्रोहियों की सहायता से अपने पड़ोसियों की शक्ति कम कर सकता है और विजय किये गये प्रदेशों में एकद्वार राज्य चला सकता है । यह देश को छोड़कर उस पर शासन करने की पुरानी नीति है ।” और आज २ अप्रैल १९३६ को, जब मैं यह लिख रहा हूँ, हमारे साम्राज्यवादी प्रभुओं में नवीन शासन-विधान को चलाने व अपनी सत्ता को कायम रखने के लिये, हिन्दू व मुसलमानों को छेड़ने के लिये किये गये प्रयत्न सर्व साधारण को प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं ।

साम्राज्यवादी नीति को स्पष्ट करते हुये उक्त लेखक कहता है । “किसी देश में अपना प्रवेश करने के लिये कोई बलवा चाहिये ।” माकियावेली ने एक राजा की प्रशंसा की है जो सदा धर्म का बहाना निकाला करता था । वह कहता है, “किसी देश पर अधिकार हो चुकने पर उग्र-नीति से काम लिया जाना चाहिये, जो पशुबल का प्रयोग करके किसी राष्ट्र का शासन अपने हाथ में ले लेता है उसे वह सब निष्ठुरतायें काम में लानी चाहिये जो तुरन्त फलदायी हों यदि राजा क्रूरता की सहायता से प्रजा को वश में रखता है तो उसे बदनामी की परवाह नहीं करनी चाहिये क्योंकि जो राजा एक स्वाधीन देश को जीतता है और उसे नष्ट भ्रष्ट नहीं कर देता है वह बड़ी भारी भूल करता है और उसे अपने नाश की प्रतीक्षा करनी चाहिये, कारण यह है कि जब वंश के निवासी बगावत करने को तयार होते हैं तो वे सदा स्वाधीनता और

अपने पूर्व पुरुषों द्वारा बनाये हुये कानूनों का नाम लेते हैं। इस विषय को अधिक समय का शासन और सक्षम व्यवहार शान्त नहीं कर सकते हैं। यदि राजा देश को भली भाँति न उजाड़ सके तो वह चापलूसी और रिश्वतों से काम ले। वह स्पष्ट कहता है, “या तो प्रजा की चापलूसी की जाय, उस पर रिश्वतों की बौछार की जाय; नहीं तो वह भली भाँति तबाह कर दी जाय।” यहाँ पर हमें उपाधियों व टाइटिलों का स्मरण हो आता है। भारत में बेतरह बाँटी जाने वाली राय साहबी, राय बहादुरी, खानबहादुरी मायकिया बेली का बतलाया हुआ हथकण्डा ही है। और मुनिये, “जो देश प्राचीन काल से स्वाधीन रहा हो उसे आधीन रखने का सबसे सहज तरीका यह है कि वहाँ के नागरिक नौकर रखे जायँ।” यह वाक्य भारत में सरकारी ओहदों पर पानेवाले तथा दरबारों और राजाओं के अभिनन्दन पत्रों की याद दिलाता है। विजय को स्थाई बनाये रखने के लिये लेखक बतलाता है, “जब एक राजा नई रियासत जीतता है और उसे अपने राज्य में मिला लेता है तो उसके लिये यह आवश्यक है कि प्रजा को निशस्त्र कर केवल उन्हें हथियार रखने दे जो युद्ध के समय उसकी तरफ़ आ गये थे। किन्तु धीरे धीरे उन्हें भी निकम्मा बना देना चाहिये और उनको आलस्य की उस हालत में डाल देना चाहिये कि कुछ समय बाद उसकी सारी शक्ति अपनी फ़ौज के भरोसे ही खड़ी रह सके। यह बात हमें आर्म्स ऐक्ट (हथियार न रखने के कानून) और निहत्थी जनता का स्मरण करानी है। किन्तु यह सम्मति देने पर भी कि आधी जनता निशस्त्र कर दी जाय और आधी

उपाधि नौकरी आदि से अपने वश में कर ली जाय, माकियावेली कहता है कि विजयी राजा को इन दोनों में से किसी को भी अपना विश्वास-पात्र नहीं बनाना चाहिये। उसके शब्द पढ़िये:—“बुद्धिमान और नीतिज्ञ राजा को चाहिये कि वह अपना वचन पूरा करने की चिन्ता न करे जबकि ऐसा करने से उसका अहित होता हो और जिस कारण से वचन दिया गया था वह पूरा हो गया हो।” इस विषय में कोई गलती न हो इसीलिये उक्त लेखक अधिक स्पष्ट भाषा में लिखता है, “अपने भावों को छिपाना और सफलता पूर्वक मन में कुछ तथा बाहर कुछ दिखाना बड़े महत्व की बात है।” इन वाक्यों में तोड़े हुये वादे तथा असंख्य विश्वास घात आँखों के सामने आ जाते हैं।

दुनियाँ की नजर में प्रतिष्ठित बना रहना अच्छा है किन्तु माकियावेली इस विषय पर भी राजा को सतर्क करता है—“सज्जन, दयालु, शिष्टाचारी, धार्मिक तथा निष्कपट सा बना रहना सम्मान प्राप्त करना है, किन्तु तुम्हारा मन इतना ठीक और अभ्यस्त होना चाहिये कि अवसर पड़ने पर उसके सोलहो आने विरुद्ध कार्य कर सके।” जो भद्र पुरुष इन बातों को पढ़ कर दुविधा में पड़ गया है वह ध्यान से पढ़े, “यदि इन दोषों के कारण उसका नाम बदनाम होता है तो उसे तनिक भी चिन्ता न करनी चाहिये क्योंकि ऐसा न करने से उसका राज्य सुरक्षित नहीं रह सकता।”

यहाँ तक हमने प्रसिद्ध राजनीति लेखक मैकियावेली के सिद्धान्त लिखे हैं। इन सिद्धान्तों की नीति भ्रष्टा देखकर कौन दंग नही रह जायेगा। यह जंगली एवं अर्ध सभ्य जातियों को सभ्य बनाने का ढोंग

रचने वाले साम्राज्यवादियों की नीति होती है। हमें तो मैकियावेली की पुस्तक की बातें ठीक ऐसी लगती हैं मानों किसी विवेचक ने “हिन्दुस्तान” में अंग्रेजों का शासन देखकर उसकी विशेषताओं का भली भाँति निरीक्षण किया है और उनमें से यह सिद्धान्त निकाले हैं। मैकियावेली ने अपनी पुस्तक में जो पोल खोली है उसके लिये हम उसे धन्यवाद देते हैं क्योंकि वह हमें अपने समय के साम्राज्यों की बुराईयाँ देखने में सहायता करता है।

---

## फासिस्टवाद ( Fascism )

फासिस्टवाद की प्रादुर्भूति वस्तुतः महायुद्ध के बाद हुई है। इसकी उत्पत्ति का कारण इटली में समाजवादी क्रान्ति की असफलता है। युद्धकाल में वहाँ समाजवादी दल का बहुमत था और वह केवल युद्ध में भाग लेना अनुचित ही नहीं समझता था वरन् इसके विरुद्ध उसके देश में पर्याप्त प्रचार भी किया था। सन् १९१७ ई० की रूसी राजक्रान्ति में श्रमिकों की सफलता ने इटली के समाजवादियों को अत्यन्त प्रोत्साहन दिया और वह इटली में भी सोवियट व्यवस्था के आधार पर श्रमिकों एवं कृषकों का राज्य स्थापित करने के अभिप्राय से सार्वजनिक क्षेत्र में क्रुद पड़े। इस ध्येय को सामने रखकर उन लोगों ने श्रमिकों का आह्वान किया कि वे लोग लाल भंडे की छत्रच्छाया में आवें और पूँजीवाद का पूर्ण विनाश कर कल, कारखानों तथा भूमिपर अपना आधिक्य स्थापित करें। फलतः समाजवादियों के संगठन का जाल सम्पूर्ण देश में फैल गया। क्रान्ति के सुनहरे स्वप्नों ने जनता में जीवन एवं उत्साह का संचार कर दिया और प्रचलित शासन के विरुद्ध नारे लगने लगे और युद्ध में सम्मिलित होना घातक बताया गया। सरकार ने राजक्रान्ति के भय से उदासीनता की नीति का अवलम्बन किया और इससे समाजवादियों की सत्ता यहां तक बढ़ गई कि उन्होंने देश के विजयी सैनिकों को, उनका हार्दिक स्वागत करने के

स्थान पर, देशद्रोहियों एवं हत्यारों के नाम से सम्बोधित किया। युद्ध के बाद मंदी, बेकारी तथा ऋण इत्यादि ने उन्हें सरकार के विरुद्ध प्रचार करने का और भी सुभीता बढ़ा दिया। सरकार ने घबड़ाकर खर्च कम करने के लिये पल्टनें तोड़ दी। फलतः बेकार सैनिक भी सरकार के शत्रु बन गये और समाजवादी दल में आ मिले। इसी प्रकार देश के सभी बेकार बदमाश लोग भी अपने स्वार्थ के लिये समाजवादी दल में सम्मिलित होगये। चैम्बर आफ डेपुटीज में समाजवादियों का बहुमत तो था ही अब उन्होंने स्थानीय संस्थाओं पर भी अधिकार कर लिया। उन्होंने श्रमिकों की सरकार स्थापित करने के अभिप्राय से कारखानों पर ताले बन्दी करा डी। अधिकार करने को तो समाजवादियों ने केन्द्रीय धारा सभा पर, स्थानीय संस्थाओं पर, कल कारखानों पर, तथा भूमि पर उन्होंने अधिकार कर लिया किन्तु उन्हें किस प्रकार नियंत्रित किया जाय, देश के वाणिज्य व्यवसाय की उन्नति किस प्रकार हो, कारखाने किस प्रकार चलाये जायें, देश की बढ़ती हुई बेकारी किस प्रकार दूर हो इत्यादि समस्याएँ हल करने में वह सफल न हो सके। सामाजवाद की यह असफलता ही फासिस्टवाद की उत्पत्ति का मूल कारण है।

पहले तो समाजवादियों ने मह युद्ध का विरोध किया, जिससे सैनिक तथा राष्ट्रवादी उनके विरुद्ध हो गये थे। दूसरे उन्होंने कारखानों पर ताला बन्दी कराकर पूँजीपतियों तथा कारखानेदारों को भी अपना विरोधी बना लिया था। किन्तु वह श्रमिकों एवं कृषकों को भी प्रसन्न न कर सके। वे कारखानों का प्रबन्ध न कर सके अतः श्रमिकों को जो कुछ वेतन मिलता था वह भी बन्द हो गया, बेकारी बढ़ चली।

श्रमिकों को रोटियों के लाले पड़ गये अतः उनमें भी समाजवादियों पर प्रश्रद्धा उत्पन्न होने लगी। समाजवादियों ने कृषकों से चुनाव के समय जमीन ज़मींदारों से खीनकर उन्हें देने का वादा किया था किन्तु परिस्थितियाँ जटिल होने के कारण वह यह भी न कर सके। अतः कृषकों को भी वह झूठे डींग मारने वाले दिखाई दिये। उन्होंने स्थानीय संस्थाओं में जाते समय मकान का कर तथा ज़पिन का कर इत्यादि घटाने का वादा किया था किन्तु केन्द्रीय सहायता स्थगित हो जाने के कारण उन्हें अपना वज्र पूरा करने तथा शिक्षा इत्यादि में उन्नति दिखाने के ध्येय से कर घटाने के वजाय बढ़ाना पड़ा फलतः जनता अप्रसन्न हो गई। जनता को फिर से समाजवादियों के साथ न देखकर विरोधियों को पुनः अवसर मिला इस प्रकार राष्ट्रवादियों, पूँजीवादियों, भविष्यवादियों (Futurists) व सैनिकों ने मिलकर एक नये दल की स्थापना की। इन्हीं दलों के मिश्रण ने फासिस्ट नाम धारण किया।

### फासिस्टों के हाथ शासन किस प्रकार आया

इसी काल में वर्साई संधि का समाचार इटली में पहुँचा। मित्र राष्ट्रों की वादाखिलाफी पर राष्ट्रवादियों की भौवें चढ़ गईं। प्रसिद्ध कवि एवं राष्ट्रवादी नेता डी एननजिओ ने सरस्वती का पूजन त्यागकर पुनः दुर्गा का स्मरण किया और सरकार को ललकारते हुये उसने जाति व देश के मान के नाम पर सैनिकों एवं युवकों का अवाहन किया। मुसोलनी ने भी अपने पत्र डी० इटालिया द्वारा देश से डी०

एननजिओ की सहायता के लिये प्रार्थना की और स्वयं भी काली कमीज़ वाले हथियार-धारी देश के स्वयंसेवकों में प्रसन्नता पूर्वक कूद पड़ा। सरकार भौचकी रह गई और मित्रराष्ट्रों के देखते देखते फ्यूम पर इटली का अधिकार स्थापित हो गया। इस प्रकार देश को अव्यवस्थित दशा में भी फासिस्टों ने देश के मान की रक्षा करके यह दिखा दिया कि शक्ति की उपासना द्वारा ही सफलता मिल सकती है। इसके बाद, इस समुदाय का वास्तविक नेता डी एननजिओ, जो सार्वजनिक प्रतिष्ठा, मान, एवं पद-लोलुपता से बहुत दूर रहना चाहता था, पुनः सरवस्ती की उपासना में लग गया। डी एननजिओ के स्थान की पूर्ति के लिये फासिस्ट दल को एक नेता की आवश्यकता थी। अतः फासिस्ट दल ने मुसोलनी को जो वीर, उत्साही, विद्वान, राजनीति का विशेष अनुभव रखने वाला तथा सैनिकों के विश्वास पात्र था अपना प्रधान चुना।

मुसोलनी की अध्यक्षता में फासिस्ट दल की शक्ति बढ़ चली। उसमें पूँजीपति, सैनिक, मध्यम श्रेणी के लोग, राष्ट्रवादी एवं भ्रष्टवादी तथा सभी युद्धवादी दल सम्मिलित हो गये। मुसोलनी ने धोपित किया कि हम राजा का नाश नहीं चाहते हैं वरन् वर्तमान मंत्रिमंडल एवं चैम्बर आफ डेपुटीज के स्थान पर एक शक्तिशाली मंत्रिमंडल तथा चैम्बर चाहते हैं। इससे राजा के पक्षपाती भी फासिस्ट दल में सम्मिलित हो गये।

दूसरे उन्होंने उन कारखानों को फिर से अपने सरक्षण में चालू कराया जो कि समाजवादियों के भय से बन्द थे और इस प्रकार उन्होंने केवल पूँजीपतियों की सहायता ही नहीं की वरन् लाखों बेकार श्रमिकों को

काम दिया । तीसरे रेल, ट्रामवे तथा डाकघर इत्यादि की रक्षा की जिसे समाजवादी क्रान्ति को सफल बनाने के लिये नष्ट-भ्रष्ट कर रहे थे; और इस प्रकार फासिस्टों ने सरकार व सरकारी कर्मचारियों का समर्थन भी प्राप्त कर लिया । इसके बाद वे रचनात्मक कार्य क्रम के लिये आगे बढ़े और सम्पूर्ण देश में गाँव-गाँव समितियाँ स्थापित कीं और वे केन्द्रीय फासिस्ट सभा के नियंत्रण में काम करने लगीं । फासिस्टों ने अपनी शाखा-सभाएँ एवं समितियाँ सैनिक संगठन के आधार पर संगठित की थीं, अतः वह असंगठन जिमके कारण समाजवादियों का पतन हुआ था, उनके पास पटकने भी न पाया । इस प्रकार अपने ठोस संगठन एवं नियंत्रण द्वारा रेलवे, कारखानों व सरकारी इमारतों की रक्षा करते हुये फासिस्टों ने अपनी सच्चाई एवं शासन-सूत्र संचालन की योग्यता का पूर्ण परिचय दिया । उसके बाद कोमुसोलनी ने घोषित किया कि फासिस्ट इटली का शासन करने के लिये तैय्यार हैं । उसने बतलाया कि एक तो फासिस्टों ने देश की रक्षा जर्मनी को हराकर की है और दूसरे उन्होंने देश को समाजवादी क्रांति के खतरे से बचाया है । अतः वे शासन करने के हकदार हैं और अपनी माँगें पूरी न होते देख वह बल प्रयोग के लिये बाध्य होंगे । तदनन्तर दूसरे साल नेपल्स की राष्ट्रीय फासिस्ट सभा ने पास किया कि सरकार के सभी कार्यालयों एवं स्थानों पर आक्रमण करके अधिकार कर लेना चाहिये । २८ अक्टूबर को ५००० काली कमीज वाले फासिस्टों ने रोम के लिये कूच किया । राजा डर गया क्योंकि उसे विश्वास था कि सेना आज्ञा न मानेगी, अतः उसने कोमुसोलनी को अपना मंत्रिमंडल बनाने के लिये निमंत्रित किया । “इस

प्रकार न तो युद्ध का नगाड़ा बजा, न एक भी बन्दूक की नली गरम हुई, न एक इन्च सूखी पृथ्वी रक्त से गीली हुई किन्तु राजक्रान्ति हो गई।” इस प्रकार शासन की बागडोर फासिस्टों के हाथ में आई और मुसोलनी मंत्रि-मंडल, फासिस्ट दल, फासिस्ट राष्ट्रीय सेना का सभा पति हुआ।

## फासिस्टवाद के सिद्धान्त

फासिस्टवाद समाजवाद की प्रतिक्रिया है। उसका प्रारम्भिक उद्देश्य बढ़ती हुई अराजकता दूर करके शान्ति स्थापित करना था। फासिस्टवाद के सिद्धान्तों के सम्वन्ध में मुसोलनी कहता है, “हमारे पास कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं है। क्योंकि हम लोग चर्च नहीं बरन् स्वतः आन्दोलन हैं; हम लोग स्वतंत्र खिलाड़ी जनसमुदाय हैं। हम लोग सिद्धान्तों एवं प्रणालियों के अजायबघर नहीं हैं बरन् हम आन्दोलन हैं” अतः शनैः शनैः फासिस्टों ने अपने स्वाम सिद्धान्तों की प्रादुर्भूति की है।

फासिस्टों के सिद्धान्तों की खोज करते हुये हमें यह देखना पड़ता है कि प्रारम्भ में फासिस्टवाद के नेता किन विचारों से प्रभावित हुये। इन पर पहिला प्रभाव तो कोपोला, फेडरजोनी, दवंगा और फोरजेज के राष्ट्रीय आन्दोलन का पड़ा। इस आन्दोलन के अन्तर्गत भविष्यवादी आन्दोलन भी सम्मिलित था। इस राष्ट्रवादी आन्दोलन का उद्देश्य भूमध्य सागर के चारों ओर संगठित एवं मजबूत रोमन साम्राज्य स्थापित करना था। कालान्तर में सभी राष्ट्रवादी फासिस्ट दल में सम्मिलित हो

गये । अतः आज भी फासिस्टों का पहला ध्येय संगठित रोमन साम्राज्य स्थापित करना है । फासिस्टों पर दूसरा प्रभाव जर्मन तत्वेत्ता हेगेल ( Hegel ) के सिद्धान्तों का पड़ा है । हेगेल के सिद्धान्तों का प्रचार इटली में गियोवानी जेन्टाइल ने किया । आज भी सिद्धान्त निमो हिगेलियन के नाम से प्रसिद्ध है और फासिस्ट उन्हीं में इटली के उद्धार का मार्ग समझते हैं । यही आदर्शवादी राज्य सिद्धान्त फासिस्टवाद का आधार-भूत है । फासिस्टों पर तीसरा प्रभाव दाँते और मेकियावेली का है । वह मेकियावेली द्वारा प्रतिपादित रोमन रूढ़ि के आधार पर सुदृढ़ राज्य स्थापित करना चाहते हैं । वे अपनी साम्राज्यवादी नीति । उसकी 'राजकुमार, ( 'The prince ) नामक पुस्तक में बताये गये । रीके काम में लाते हैं । चौथे मुसोलनी के लोकतन्त्र विरोधी विचार वीस विद्वान पेरिटो ( Pareto ) का प्रभाव है । उसी के प्रभाव । मुसोलनी कहता है कि निर्वाचन प्रथा धोखे की टट्टी है, जहाँ वचारों के स्थान पर धाँधली, धोखा, कपट एवं बेईमानी को अधिक पान प्राप्त हैं । उसका कहना है कि ज्ञान एवं बुद्धि का विकास परिमित ख्या में थोड़े से ही व्यक्तियों में होता है । पाँचवाँ प्रभाव रोमन थोलिक धर्म का है । उन्होंने फिर से इसे राज्य का धर्म घोषित किया है और वे सनातनी रोमन कैथोलिकों की तरह केवल ईश्वर की ता में विश्वास करते हैं । यहाँ तक कि उन्होंने राजनीति में भी ईश्वर । ला खड़ा किया है । इन्हीं प्रभावों पर फासिस्टवाद के सिद्धान्त बलम्बित हैं, या यों कहना चाहिये कि यही फासिस्टवाद के मुख्य द्धान्त हैं ।

## फासिस्टवाद और राज्य ( Fascism and State )

फासिस्टवादियों का कहना है कि राज्य का महत्व, राज्य की सत्ता न जनता में है न राजा में, वह तो केवल ईश्वर में केन्द्रीभूत है अतः वे अपने राजनैतिक कार्यों के लिये जनता के सम्मुख नहीं बरन् ईश्वर के सम्मुख उत्तरदायी हैं। वे अपने राज्य को दैविक राज्य ( Spiritual state ) बतलाते हैं। उनका कहना कि सर्वश्रेष्ठ राज्य का रूप राष्ट्रीय राज्य है वे व्यक्ति का व्यक्तित्व राष्ट्र से अलग मानने के लिये कभी भी तैयार नहीं हो सकते हैं यह उनकी दृढ़ धारणा है कि राज्य की इच्छा ही व्यक्ति की वास्तविक इच्छा होती है। फासिस्टों को राजनैतिक एवं तात्विक दृष्टि से भी राज्य सर्व श्रेष्ठ दिखाई देता है क्योंकि वे कहते हैं कि मानव प्राणी के नैतिक, तात्विक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक विचारों का भी नियन्त्रण करने का राज्य को पूरा अधिकार है। अतः फासिस्ट राज्य में व्यक्ति राज का यंत्र मात्र रह जाता है। उसे किसी भी दशा में राज्य के नियमों का उलंघन करने का अधिकार नहीं प्राप्त है। उनकी धारणा के अनुसार राज्य अत्यन्त शक्तिशाली होना चाहिये क्योंकि वे राज्य का ध्येय राज्य ही समझते हैं। वे राज्य को साध्य और व्यक्ति को साधन बताते हुये राज्य का आज्ञा पालन करना व्यक्ति का परम कर्तव्य बताते हैं व्यक्ति का जीवन मरण राज्य के अस्तित्व के लिये है। वे प्राचीन रोमन साम्राज्य के समान दृढ़ राज्य ( State Forte ) का मिद्धान्त अपने समान रखते हैं। उनकी आकांक्षा सुदृढ़ रोमन साम्राज्य के पुनर्निर्माण की है। इस

सम्बन्ध में फासिस्ट मैक्रियावेली के सिद्धान्तों का अनुकरण करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार उत्तम राज्य का मुख्य एवं आवश्यक आधार, शक्ति है। राज्य का गुण उसकी सत्ता, शक्ति तथा शासन की क्षमता में निहित रहता है राज्य अपनी उन्नति के लिये बुरे से बुरे साधनों का प्रयोग कर सकता है। फासिस्ट, राज्य की शक्ति वृद्धि के लिये किये गये अन्याय एवं अत्याचार सर्वदा ही क्षम्य समझते हैं।

### फासिस्टवाद और स्वतंत्रता

फासिस्ट स्वतंत्रता के सबसे बड़े विरोधी हैं। वह व्यक्ति की स्वतंत्रता में विश्वास नहीं करते हैं। उनका कहना है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता एक बड़े खतरे की वस्तु है, यह राष्ट्र को अत्यन्त निर्बल बना देती है। फासिस्ट कहते हैं कि स्वतंत्रता का अर्थ है देश का कल्याण एवं उन्नति, देश की उन्नति राज्य द्वारा ही हो सकती है अतः व्यक्ति की स्वतंत्रता इसी बात में है कि वह राज्य की आज्ञा का अक्षरशः पालन करे। वे पार्लियामेन्टरी स्वतंत्रता में भी विश्वास नहीं करते हैं। मुसोलिनी कहते हैं “पार्लियामेन्ट के व्याख्यान जनता को उत्तेजित कर देश को शांति भंग करते हैं। देश कभी पार्लियामेन्ट द्वारा अपने रचनात्मक कार्यों में सफल नहीं हो सकता। वहाँ लम्बी लम्बी स्पीचें भाड़ने एवं समाचार-पत्रों के स्तम्भों को अग्रलेखों तथा सम्पादकीय-टिप्पणियों से रंग देने का काफ़ी मौका मिलता है। ऐसी अवस्था में कोई भी स्वतंत्र नहीं रह सकता जब कि सभी केवल स्वतंत्रता-स्वतंत्रता चिल्लाते हैं।” फासिस्ट वादी नेता व्यक्ति की स्वतंत्रता को एक मिथ्या धारणा बतलाते हैं। एक लेखक का कहना है कि देश में शान्ति स्थापन

का प्रयत्न करना होगा ? शायद राजनैतिक हड़तालों को बन्द करना भी स्वतंत्रता का अपहरण करना होगा ? क्या यह भी स्वतंत्रता की कमी ही कही जायेगी, यदि उन मनचले उछुंखल लीडर नामधारी जीवों को खेतों में कृषकों और कारखानों में श्रमिकों से यह कहने के लिये कि खेत कृषकों का और कारखाना श्रमिकों का है, मना किया जाय ? स्वतंत्रता के सम्बन्ध में मुसोलिनी कहते हैं, “आज स्वतंत्रता शब्द से भी महत्वपूर्ण शब्द है संगठन एवं विनिमय……।”

फासिस्ट सभा, समितियों की सामुहिक स्वतंत्रता में भी विश्वास नहीं करते हैं। उनका कहना है कि सभा समितियों की स्वतंत्रता राज्य की सत्ता एवं पूर्णत्व को विभाजित कर देती है और राज्य दुर्बल हो जाता है। इसी प्रकार वे राज्य में कई दलों की स्थिति में भी विश्वास नहीं करते हैं क्योंकि दलों का निर्माण विचारों की विभिन्नता से होता है अतः वे राज्य की संगठन-शक्ति को विभाजित कर देते हैं। फासिस्ट प्रेस की स्वतंत्रता को नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि प्रेस वह साधन है जिसके द्वारा राज्य अपने विचारों को प्रकट करता है। उसे जीवित रहने का अधिकार तभी तक है जब तक वह इस कार्य को क्षमता पूर्वक सम्पादित करता है। वे राज्य के कार्यों की आलोचना करनेवाले प्रेसों को देखना बरदाश्त नहीं कर सकते हैं। आर्थिक स्वतन्त्रता के क्षेत्र में वे न तो व्यक्तिवादियों (Individualist) की तरह देश के व्यापारियों को पूर्ण स्वतन्त्रता देना चाहते हैं और न समाजवादियों की तरह वे देश के सम्पूर्ण व्यवसाय एवं कल कार-  
ानों को राज्य की सम्पत्ति करार देते हैं। उनका विश्वास है कि

आयात निर्यात को संस्करणों द्वारा बराबर करना चाहिये और वे व्यक्ति को अपना व्यवसाय इसी शर्त पर स्वतंत्रता पूर्वक करने देना चाहते हैं कि उसका वाणिज्य व्यवसाय व्यक्तिगत स्वाधों के लिये न होकर राज्योन्नति के लिये हो। वे पूँजीपतियों को अपने कारखाने चलाने देना चाहते हैं क्योंकि पूँजीपति और पूँजी, राज्य को सुदृढ़ बनाने में सहायता करते हैं। उनकी धारणा है कि पूँजीपतियों की पूँजी राज्य की सम्पत्ति है और वे उस सम्पत्ति के ट्रस्टी हैं।

### फासिस्टवाद और प्रभुता ( Fascism and sovereignty )

फासिस्ट प्रभुता ( Soveriegnty ) को लास्की की तरह कोई विभाजित हो सकने वाली वस्तु नहीं समझते हैं। समूहवादियों ( Pluralists ) के विरुद्ध उनका कहना है कि राज्य के सम्मुख कोई अन्य संगठन या समुदाय कोई सत्ता नहीं रखता है। अन्य संगठन उतनी ही शक्ति पा सकते हैं जितनी राज्य उन्हें देना उचित समझे। वे रूस की तरह जनता (People) को भी प्रभु (Sovereign) नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि यदि देश की सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी बनती है तो उसका कोई अस्तित्व ही नहीं रहता है। वे ग्रीन ( green ) की सामूहिक इच्छा ( general will ) में भी विश्वास नहीं करते हैं। वे सभी लोकतन्त्री सिद्धान्तों का उल्लंघन करके कहते हैं कि प्रभु ( Sovereign ) जनता नहीं वरन् ईश्वर है। फासिस्ट अपने को ईश्वर के प्रति उत्तरदायी बतलाते हैं।

## फासिस्टवाद और युद्ध

फासिस्टों की दृष्टि में युद्ध वह साधन है जिसके द्वारा किसी जाति अथवा देश के गौरव की उच्चता प्रगट होती है। वह युद्ध को बुरा नहीं समझते हैं क्योंकि फासिस्ट सिद्धांतों के अनुसार युद्ध एक पवित्र वस्तु है। मुसोलनी युद्ध को आवश्यक समझते हैं और कहते हैं कि संसार में युद्ध का होना हजारों निश्शस्त्रीकरण सभायें होने पर भी नहीं मिट सकता है। युद्ध दो शक्तियों में संघर्ष कराकर शक्तिशाली को विजय-माला पहनाता है और इस प्रकार संसार में शक्तिशाली राष्ट्र, व्यक्ति, जाति एवं सभ्यता का उच्च स्थान प्रदान करता है। उनका कहना है कि युद्ध जातियों में नवजीवन संचार करता है। उन्हें कर्तव्य-पथ की ओर अग्रसर करता है। यह देश को आर्थिक-उन्नति करने के मौके देता है। फासिस्ट कहते हैं। कि युद्ध प्राकृतिक वस्तु है अतः मनुष्यों को युद्धस्थल में मरना पाप नहीं है। घायलों को रणभूमि में कराहते देख, युद्ध-विरोधी आन्दोलन करना कायरता है। हम प्रकृति में प्रतिदिन देखते हैं कि शक्तिशाली जीव निर्बल का नाश किया करते हैं। अतः युद्ध करना प्राकृतिक एवं ईश्वरीय नियम है। केवल उन्हीं जातियों को जीवित रहने का अधिकार है जो युद्ध रूपी प्राकृतिक कसौटी पर अपने को जीने योग्य साबित कर दें। सृष्टि का आधार ही संघर्ष है। अंगु परमाणुओं तक में संघर्ष पाया जाता है। जब युद्ध एक प्राकृतिक नियम है, तो इसके नाश का स्वप्न देखना हवा में बातें करना है। जब युद्ध प्राकृतिक वस्तु है तब उसके विरोध

की कल्पना ही नहीं करनी चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिये कि अपने इस अनिवार्य कर्तव्य के लिये पूर्ण शक्ति से प्राणों की बाज़ी लगाकर प्रतिदिन तैयारी करता रहे। फासिस्ट कहते हैं कि निर्धन तथा दलित देशों को युद्ध के अवसर ईश्वर-प्रदत्त सुविधायें समझनी चाहिये। ऐसे अवसर पर वे अपने वीरों की बलि चढ़ाकर चिर-गौरव खरीद सकते हैं। फासिस्ट-राज्य का शक्ति ही आधार है और वे शक्ति के उपासक हैं।

### फासिस्ट राज्य में स्त्रियों का स्थान

फासिस्टवाद की स्त्री-अधिकार सम्बन्धी धारणायें भी समाजवादी धारणाओं के विपरीत हैं। समाजवादी स्त्रियों को समान अधिकार तथा समान स्वतंत्रता देने के पक्षपाती हैं। वे उन्हें अपनी जीविका के लिये पुरुषों की भाँति मनमाना व्यवसाय करने की इजाज़त देकर उन्हें स्वतंत्र जीवन बिताने योग्य बनाना चाहते हैं। किन्तु फासिस्ट उन्हें राजनैतिक कार्यों में भाग लेने की आशा नहीं देते हैं। उनका कहना है कि स्त्रियों का कार्य क्षेत्र चूल्हा-चक्री है न कि पार्लियामेन्ट। वे प्राचीन रोमन-संस्कृति के अनुयायी हैं। उनका कहना है कि स्त्रियों का कार्य मनुष्यों से समान अधिकार माँगना तथा राजनैतिक जीवन में भाग लेना नहीं है; उन्हें तो योग्य गृहिणी, वीर-माता एवं पति-प्रेम परायण पत्नी बनने का प्रयास करना चाहिये। यदि पुरुष सामाजिक, राजनैतिक एवं अन्य बाह्य क्षेत्रों में श्रेष्ठ हैं, तो स्त्रियाँ भी गृहस्थ जीवन की केन्द्र एवं सर्वेसर्वा हैं। फासिस्टों की यह निश्चित धारणा है कि यदि स्त्रियों को राजनीति के दूषित वातावरण में लाया जायेगा

तो देश के गृहस्थ-जीवन का पतन हो जायगा। स्त्रियों को चाहिये कि वे अपने को घरेलू कार्यों में ही अधिक कुशल बनाने का प्रयत्न करें और पुरुषों को चाहिये कि वे गृहस्थी के कार्यों का भार अपनी कुशल पत्नियों के हाथ में विश्वास पूर्वक छोड़कर देश के हित के लिये सार्वजनिक कार्यों में आगे बढ़ें।

इस प्रकार फासिस्टवाद के विभिन्न अंगों पर विवेचन करते हुये हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि फासिस्टवाद समाजवाद के प्रति प्रतिक्रिया है। फासिस्ट राज्य, देश, धर्म, जाति इत्यादि उन सभी बातों में विश्वास करते हैं जिनमें समाजवादी विश्वास नहीं करते हैं। फासिस्टों का जीवन वह साम्राज्यवाद है जिसको समाजवाद अपना एकमात्र शत्रु समझता है। समाजवादी राज्य में विश्वास नहीं करते हैं किन्तु फासिस्ट राज्य को ही जीवन का ध्येय बताते हैं। समाजवादी विभिन्न वर्गों का विनाश कर एक वर्ग बनाना चाहते हैं किन्तु फासिस्ट वर्गों एवं श्रेणियों में विश्वास करते हैं और कहते हैं कि वर्ग प्राकृतिक वस्तु हैं; उनका न कभी नाश हुआ है और न होगा।

---

## नाजीवाद ( Nazism )

### यूरोपीय महायुद्ध के बाद जर्मनी

महायुद्ध की पराजय के पश्चात् जर्मनी की दशा बहुत बिगड़ गई । व्यापार के नष्ट हो जाने के कारण आर्थिक प्रश्न ने देश में हाहाकार मचा दिया । उसके उपनिवेश छिन गये और उसे एक भारी रकम सामरिक दण्ड के रूप में अदा करनी पड़ी । फलतः देश में लूट-खसोट, चोरी-डकैता, कराल दुर्भिक्ष तथा बेकारी ने अपना अड्डा जमाया, अराजकता फैल चली । जिस विलियम कैसर की साम्राज्य-लिप्सा ने जर्मनी को इस दयनीय दशा पर पहुँचाया, प्रजा का उसके विरुद्ध हों जाना स्वाभाविक ही था । वह बढ़ते हुए विद्रोह को रोकने में असमर्थ होकर ६ नवम्बर १९१८ ई० को अपने प्राण लेकर हालैंड भाग गया, जहाँ से पुनः जर्मनी को उसनेआने का साहस न किया । कैसर के राज्य-परित्याग के साथ जर्मनी में राज्य-तन्त्र का विनाश हो गया । तदनंतर प्रजातन्त्र की नींव डाली गई । ११ फ़रवरी १९१८ को जर्मन राज्य नीतिज्ञों ने एक अल्प कालीन विधान की व्यवस्था की । ज़माने की धारा के अनुसार जर्मनी में संघ-शासन की व्यवस्था की गई और इसमें अमरीका तथा अन्य देशों के अनुभव का प्रयोग करते हुए सभी प्रकार की सुविधायें करने का प्रयास किया गया । इस विधान के अनुसार

फ्रेडरिक एवर्ट सभापति चुने गये, किन्तु विधान के अन्तरगत चांसलर को अप्रतिबन्धित शक्तियाँ प्रदान की गई थीं और जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, हिटलर चांसलर से ही जर्मनी का तानाशाह बन बैठा ।

यद्यपि जर्मनी में १७ स्वतन्त्र रियासतों का एक संघ बन गया किन्तु यह विधान बहुत दिन तक न चल सका । इसके अनेकों कारण हैं ।

( १ ) जर्मनी में इंग्लैण्ड, अमरीका इत्यादि की तरह स्पष्ट दो दल न बने जिससे कि एक बहुमत प्राप्त करके सरकार बनाता और दूसरा विरोध का कार्य करता । वहां की व्यवस्थापिका में बहुत से दल हो जाने के कारण कोई भी पार्टी स्पष्ट बहुमत नहीं प्राप्त कर पाती थी । फलतः नित्य नये मंत्रि-मंडल बनाए जाते थे और वह वधानिक अड़ंगे आ जाने के कारण आए दिन भंग हुआ करते थे । आर्थिक-संकट तथा बेकारी के जमाने में निश्चित कार्य क्रम की आवश्यकता थी । किन्तु निर्बल सरकारों का सारा समय बनने व बिगड़ने में ही जा रहा था । वास्तविक कार्य कुछ भी न होता था । जनता बोट देते देते परेशान थी । ऐसी दशा में, असन्तोष का फैलना स्वाभाविक ही था ।

( २ ) जर्मन जनता सदा से एक शक्तिशाली सरकार के नीचे रहने की आदी थी । वह अब भी विधान का सबसे बड़ा अपसर, पूर्ण शक्ति का व्यक्ति चाहती थी । अतः सभापति का मंत्रिमंडल भंग करके राज्य की बागडोर हाथ में लेना उसे बुरे की अपेक्षा भला ही प्रतीत होता था ।

( ३ ) जर्मनी को प्रजातन्त्र का अनुभव न था ।

( ४ ) युद्ध के बाद पराजय से बिगड़ी दशा के सुधार के लिये, बड़े ही राष्ट्रव्यापी सुधारों की आवश्यकता थी किन्तु मिश्रित मंत्रि-मंडलों के इस कार्य को करने में असमर्थ होने के कारण सभापति उन्हें भेग करके चांसलर की सहायता से उन्हें सम्पादित करने का प्रयास करना उचित समझता था ।

( ५ ) कम्युनिज़्म का जोर बढ़ रहा था । जर्मन-प्रेस शक्ति हीन हो गया था और उसके द्वारा बोलशेविक साहित्य जनता के विचारों तथा आदर्शों में परिवर्तन ला रहा था ।

( ६ ) युक्त कारणों से जर्मन विधान का छुकड़ा लचर ढंग से चल रहा था । जब २८ फ़रवरी १९२५ को सभापति एवर्ट की मृत्यु हो गई, तो हिंडनबर्ग सभापति निर्वाचित हुए । किन्तु इसी काल में हिटलर और उसका नाजी दल जिसका अभ्युत्थान आगे चलकर बयान किया जायेगा, अपनी शक्ति देशव्यापी बना रहा था । जुलाई स० १९३२ में पुनः प्रधान का निर्वाचन हुआ । इस बार हिटलर भी खड़ा हुआ किन्तु वह हिंडनबर्ग के सामने कामयाब न हो सका । जनवरी स० १९३३ में हिटलर रीचेस्टाग का चांसलर चुना गया और ३४ में डिक्टेटर । तब से जर्मनी का विधान बालायताक रख दिया गया है । आज हिटलर जर्मन देश का सर्वेसर्वा है । वह उसका भाग्य विधाता है, उसके इशारे पर बच्चे बच्चे की हरकत निर्भर है । उसका नाजी दल ही एक मात्र राजनैतिक दल वहाँ दिखलाई पड़ता है । उसने विश्व की राजनीति में उथल पुथल मचा रखी है । उसके राजनैतिक

सिद्धान्त वही हैं जो फासिस्ट के हैं। किन्तु सिद्धान्तों पर आने के पहले हमें नाजीदल के अभ्युत्थान पर विचार कर लेना चाहिये।

## नाजी दल का अभ्युत्थान

जैसा कि ऊपर के कथन से स्पष्ट है, नाज़ी, युद्ध के पीछे की संतान हैं। जिस समय जर्मनी में बेकारी और व्यभिचार बढ़ रहा था उस समय वहाँ के राजनीतिक रंगमंच पर एक व्यक्ति आया जिसका नाम हिटलर था, वह एक स्वयंसेवक देश-भक्त था। उसकी रग-रग में जर्मनी के उत्थान के लिये जोश उमड़ रहा था। अतः उसने एक स्वयं-सेवकों की पार्टी बनाना आरम्भ किया। इस स्वयम्-सेवक दल में कोई भी पुरुष ३० वर्ष से ऊपर का न था। प्रारम्भ में इस दल में केवल सात व्यक्ति थे। यही दल आगे चलकर नाज़ी नाम से प्रसिद्ध हुआ और थोड़े ही काल में बेकार श्रमिक-वर्ग उमड़ उमड़कर उसकी ओर आने लगा। इस सुअवसर को देखकर उसने २५ फ़रवरी सन् १९२० को एक घोषणा पत्र निकाला जिसके अनुसार ( १ ) कम्युनिज़्म का दमन करना ( २ ) यहूदियों को जर्मनी से निकालना ( ३ ) राष्ट्र-संगठन करना इस दल का कार्य-क्रम बना। इस घोषणा-पत्र ने सम्पूर्ण जर्मनी में खलबली मचा दी। तदन्तर हिटलर विकट परिस्थितियों में होता हुआ १९२३ में कारागार में ठूँस दिया गया। सन् २३ में जेल से आने के बाद उसने अपना स्वयं-सेवक दल पुनः संगठित करना प्रारम्भ किया। सन् २६ में इस दल की संख्या पर्याप्त हो गई और इसका नाम नाजी-दल रखा गया। २२ मई सन् २६

को हिटलर ने अपना पूर्व घोषणा पत्र संशोधित रूप में प्रकाशित किया । संशोधित घोषणा पत्र इस प्रकार है ।

( १ ) कोई जर्मन, बोलशेविक अथवा कम्युनिष्ट न हो । बोल-शेविज्म का प्रचार जर्मनी में सर्वथा वर्जित है ।

( २ ) जर्मनी की सम्पूर्ण रियासतें रीचेस्टाग के आधीन होनी चाहिए । रीचेस्टाग का अधिपत्य प्रत्येक शासन कार्य में होगा ।

( ३ ) जर्मनी में केवल विशुद्ध जर्मन ही रह सकते हैं, वे जर्मन जो आदि आर्यों की संतान हैं ।

( ४ ) किसी यहूदी को विशुद्ध जर्मन बनने का अधिकार नहीं है ।

( ५ ) जो जर्मन नहीं है वह जर्मनी में केवल अतिथि की भाँति रहेगा ।

( ६ ) केवल जर्मन ही राज-काज में भाग ले सकते हैं । 'अतः रिच का प्रत्येक पद केवल जर्मन ही को मिलेगा ।

( ७ ) प्रजातन्त्र का यह कर्तव्य है कि वह जर्मन-जनता के लिये रहन-सहन तथा अजीबिका का प्रबन्ध करे । यदि ऐसा नहीं किया जा सकता तो विदेशियों को निकाल देना चाहिए ।

( ८ ) जर्मन में विदेशियों का आकर रहना बन्द । जो सन् १४ के बाद जर्मनी में आये हैं उन्हें निकाल देना चाहिए ।

( ९ ) जर्मन सेना में सब सैनिक जर्मनी ही हों । यदि कोई सैनिक विदेशी हैं तो उसे निकाल दिया जाय ।

( १० ) जर्मन प्रेस को भली भाँति नियंत्रित करना चाहिये ।

( ११ ) जर्मन-भाषा के पत्र व पत्रिकाओं के सम्पादक सब जर्मन हों ।

( १२ ) विदेशी पत्र-पत्रिकाएँ बिना राजाज्ञा के न प्रकाशित हों और न आयें ।

( १३ ) कोई विदेशी किसी जर्मन-पत्र की किसी प्रकार सहायता न करे, ऐसा करने वाला निकाल दिया जायगा ।

( १४ ) जो पत्र जन-साधारण के हित-विरुद्ध हों उन्हें बन्द कर देना चाहिये ।

( १५ ) प्रत्येक जर्मन अपने को आर्य स्वीकार करेगा ।

उक्त घोषणा-पत्र ही नाज़ियों का कार्य-क्रम है । इससे स्पष्ट है कि नाज़ियों के कोप भाजन मुख्यतः कम्यूनियट व यहूदी हुये । उनका प्रत्येक कार्य आज भी इसी प्रोग्राम के अनुसार होता हुआ प्रतीत होता है । इस प्रोग्राम को लेकर नाजी-दल ने आगे कदम बढ़ाया और हिटलर के नेतृत्व में वह दिन प्रतिदिन उन्नति करता गया यहाँ तक कि चन्द वर्षों में उसने जर्मन पर अपना एकाधिपत्य स्थापित कर लिया किन्तु नाजी-दल के अभुत्थान का क्या कारण है ?

जैसा ऊपर बताया जा चुका है “आर्थिक संकट की दृष्टि से और राजनैतिक-क्षेत्र में पक्ष और विपक्षियों के झगड़ों के ख्याल से महा-युद्ध के बाद जर्मन की अवस्था सबसे अधिक बिगड़ रही थी । एक ओर विजेताओं ने नाक में दम कर रक्खा था तो दूसरी ओर फक्कड़ों, बेकारों और युद्ध-पीड़ितों ने यह युद्ध की ठान रखी थी । सोशल डिमा-क्रैट्स का ढीला-ढाला शासन किसी को भी काबू में न कर सका ।

आये दिन मंत्रिमण्डल बदला जा रहा था। फल यह हुआ कि देश में द्वेष, कलह, विरोध, पारस्परिक झगड़े और दल बन्धियाँ होने लगीं। हर्जाने के बोझ से जर्मन-जनता बिलबिला रही थी। वरसायी की संधि ने उनके टुकड़े टुकड़े कर दिये, अन्तर्राष्ट्रीय जगत में जर्मन जाति की इज्जत बहुत कम हो गई थी। उनके उपनिवेश छिन गये थे। सन् १९२३ में फ्रान्स ने रूर पर जबर्दस्ती कब्ज़ा कर लिया। इसको मुक्त करने के लिये एक बहुत बड़ा हर्जाना देना पड़ा।

किन्तु जर्मन जनता कोई मुर्दा क्रौम न थी। युद्ध में हारने से क्या होता है, जब तक स्वाभिमान तथा अत्म-महत्ता की भावनायें नहीं मरती तब तक कोई क्रौम बहुत काल तक दबाई नहीं जा सकती—फिर जर्मन जाति का तो कहना ही क्या? उसने तो योरुप का इतिहास बनाया और बिगाड़ा था। रोमन साम्राज्य के उत्तराधिकारी जर्मन ही तो थे। जर्मन-जाति ने ही इङ्गलैण्ड आदि में बसकर वर्तमान युग की सृष्टि की थी। वह सन् १२६० की शानदार विजय, वह प्रिन्स विस्मार्क की दबंग राजनीति, कैसर विलियम की वह नीति-पटुता, ल्यूडेन्डवर्ग और हिन्डेनवर्ग का वह युद्ध-कौशल, वह जर्मन फौज की धाक—जर्मन-जाति यह इतिहास भूल नहीं सकती थी। नीत्शे ने जर्मन जाति को सबसे श्रेष्ठ बताया है। जनता की रगों में इन सब भावों का संचार हो रहा था। केवल एक पथ प्रदर्शक की आवश्यकता थी, वह मिल गया।

जर्मन-जाति के स्वाभाविक गौरव की भावना से प्रेरित होकर

यडाल्फ हिटलर जर्मनी को पूर्व सम्मान युक्त स्थान पर पहुँचाने को कटिबद्ध हुआ और उसने मुसोलिनी की कार्य-प्रणाली का अनुकरण करना प्रारम्भ किया। जर्मन जनता ने उसका साथ दिया और उसी के फलस्वरूप आज जर्मनी में हिटलरवाद या नाजी वाद का बोल चाला है।

## नाजियों के सिद्धान्त

राजनैतिक क्षेत्र में नाजी, फासिस्टों को अपना गुरु मानते हैं। इनके सिद्धान्त नीत्शे के तत्त्वज्ञान पर अवलंबित हैं। नाजी समाजवाद के कट्टर विरोधी हैं। समाजवाद सभी जातियों को समान समझता है किन्तु जर्मन-जाति यह कभी स्वीकार नहीं कर सकती। वह अपने को अन्य जातियों से श्रेष्ठ समझते हैं अतः उनकी धारणा है कि वह अन्य जातियों पर शासन करने का वे प्राकृतिक अधिकार रखते हैं। और संसार की समस्त जातियों की उन्नति उन्हीं के शासन में हो सकती है। नाजी-सिद्धान्ततः कट्टर राष्ट्रवादी हैं। यह अपने राष्ट्र के उत्थान के लिये अन्य राष्ट्रों के साथ और स्वयं जर्मन-जनता के साथ सभी प्रकार के अत्याचार कर सकते हैं। उनकी राष्ट्रीयता संकीर्ण है अतः राष्ट्र के नाम पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, प्रेस की स्वतन्त्रता, लिखने व बोलने की स्वतन्त्रता का हनन किया जाता है आज नाजी जर्मनी में विरोधी-दलों के लिये कोई स्थान नहीं है। सारे देश पर नाजी सैनिकों का आतंक रहता है। वहाँ स्वतन्त्रता समानता और अधिकार की भावना नहीं पनपने दी जाती है। हिटलर तथा अन्य

नाजी नेताओं की इच्छा ही कानून है। श्रमिक-वर्ग को हड़ताल इत्यादि का कोई हक्क नहीं है। यद्यपि वहाँ चुनाव का ढोंग रचा जाता है, परन्तु नाजी दल को वोट न देने वाले गोली से उड़ा दिये जाते हैं। नाजी युद्ध को स्वाभाविक समझते हैं उन्हें जिसकी लाठी उसकी भैंस पर पूर्ण विश्वास है।

नाजी स्वभावतः साम्राज्यवादी हैं इसलिये महायुद्ध की पराजय के बाद उन्होंने फिर से युद्ध की तैयारी करना प्रारम्भ कर दी है। आज उसने फ्रान्स से अपने राइन के पास के ज़िले छीन लिये हैं। गतवर्ष आस्ट्रिया पर अधिकार कर लिया है और अभी पिछले महीने में युगोस्लेविया के सुडेटन भाग पर अधिकार कर लिया है। इस अवसर पर दी गई हिटलर की स्पीचों से उसके उद्देश्य का काफ़ी पता चलता है। आज कल उसकी हवाई शक्ति विश्व में सबसे बढ़ी चढ़ी है। वह दिन प्रति दिन अपने उपनिवेशों की मांग ज़ोरदार शब्दों में रखता जाता है। वह यूरोप में एक सुविस्त्रत जर्मन-साम्राज्य स्थापित करना चाहता है। इस साम्राज्य में आस्ट्रिया, जर्मन, स्विटज़रलैंड, बोहोमिया, पोलैन्ड, बाल्टिक सागर को रियासतें, युगोस्लेविकिया-हंगरी, डेनमार्क, हालैन्ड, बेल्जियम और प्लैडर्ज होंगे। इस विशाल योजना की पूर्ति के लिये जर्मन तन-मन-धन से प्रयत्नशील है !

**राष्ट्र निर्माण का कार्य**—राष्ट्रवादी नाजियों ने जो राष्ट्र निर्माण के कार्य किये हैं वह स्तुत्य हैं। उन्होंने बेकारों की बेकारी दूर की है, जर्मनी का खोया हुआ गौरव फिर से प्रदान किया है। आज वह फिर संसार के सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रों में से गिना जाता है। उन्होंने अनियमित आर्थिक नीति

के स्थान पर बड़ी बड़ी राष्ट्र निर्माण की योजनायें निर्माण कीं। डिमा-क्रेट्स के लीचड़ संगठन के स्थान पर ४६ सुदृढ़ संगठन की प्रादुर्भूति की। जर्मन जाति की उन्नति का एक मुख्य कारण उसका संगठन ही है, वह हिटलर की आज्ञा पर मरने, मिटने को तैयार रहते हैं। नाजियों ने स्त्रियों को दफ्तरों व कारखानों से हटा कर चूल्हा चक्की के काम में लगाया है। इससे बेकार जनता को काम मिला और बेकारी दूर हुई। उन्होंने जनसंख्या की वृद्धि के लिये सन्तानोत्पत्ति का प्रचार किया। आज जर्मनी में अविवाहित स्त्री-पुरुषों को कर देना पड़ता है। इस रकम से विवाहितों की सहायता की जाती है। आज जर्मनी के बच्चे राष्ट्र की सम्पत्ति समझे जाते हैं। जहाँ स्त्रियों को बच्चे पैदा करने के लिये प्रोत्साहित किया जाता है वहाँ शिशु पालन के प्रबन्ध भी बड़े ही उत्तम हैं। प्रत्येक बच्चे को बीर, मेधावी तथा शक्तिशाली बनाने का प्रयास किया जाता है। राज्य स्वयं उनकी देखभाल करता है। आज वहाँ हिटलर की आज्ञा से प्रत्येक शहर व कस्बे में मातृ-सरक्षण-केन्द्र (Mother well fare centres) खोल दिये गये हैं युवक-युवतियों को व्याह के पहिले स्वास्थ्य सम्बन्धी परामर्श दिये जाते हैं, और गर्भवती स्त्रियों के लिये अनेक प्रकार की सुविधायें प्रदान की जाती हैं।

शिल्पकला-विज्ञान, तथा साहित्य में भी नाजी जर्मनी ने बहुत बड़ी उन्नति की है। जितने नवीन आविष्कार जर्मनी में होते हैं उतने किसी भी अन्य देश में सम्भवतः नहीं हो सके हैं। हिटलर का ज्योतिष शास्त्र में भी विश्वास है। वहाँ पर बहुत से ताराग्रह तथा ज्योतिष पत्र

संग्रहलय हैं। जर्मनी में जर्मन भाषा के सिवा संस्कृत भाषा का भी पठन-पाठन अनिवार्य है इस प्रकार नाजियों ने राष्ट्र निर्माण की दृष्टि से जर्मनी में बहुत से आर्थिक, सामाजिक, व राजनैतिक सुधार किए हैं। खोया हुआ गौरव पुनः प्राप्त किया है।

### नाजियों की नृशंशता:—

नाजियों का सब से घृणित व्यवहार यहूदियों के साथ है। आज उनके लिये जर्मनी नरक से भी अधिक यन्त्रणा-स्थल हो रहा है। उन्हें जिस निर्दयता के साथ निकाला जा रहा है उससे सारा सभ्य संसार हिल गया है। सन् १९३३ ई० तक जर्मनी से निकाले गए विदेशियों की संख्या ३०,००० थी। इतनी ही बड़ी संख्या तब से और निकाली जा चुकी है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि निर्वासितों में अधिकांश यहूदी हैं। जिन यहूदियों ने युद्धकाल में जर्मन व्यवसाय की रक्षा की थी, युद्ध के उपरान्त जब जर्मनी पैसे पैसे को तरस रहा था तब उन्होंने ही अपनी पूँजी लगाकर जर्मनी की आर्थिक-दशा सुधारने में एक बहुत बड़ी सहायता दी थी आज उन्हीं यहूदियों के व्यवसाय छीन लिए गए, अब उनकी पूँजी जप्त करली गई है। इनकी न्याय की प्रार्थना पर मज़ाक उड़ाया जाता है और उन्हें पाशविकता के साथ जर्मनी से निकाला जा रहा है। आज उनके उद्योग धन्धे, उनके कारखाने, उनकी नौकरियाँ बेकार युवकों को प्रदान की जा रही हैं। यहूदियों को निकाल कर निष्ठुर नाजी अपने देश की बेकारी ही नहीं दूर करते हैं, बरन् उनकी धारणा है कि जर्मनी में केवल विशुद्ध

जर्मन ही के रहने से सामाजिक व राजनैतिक अभ्युत्थान की सम्भावना है। धन-लोलुप यहूदी प्रत्येक बात को व्यवसायिक दृष्टिकोण से देखते हैं। वे जर्मन-राष्ट्र के हित-अहित का विचार कर ही नहीं सकते, वस्तुतः नाजियों का शासन सैनिक शासन है। अतः जिस बात को सैनिक बुरा मानते हैं, उसके निर्मूल करने में सैनिक-वृत्ति से ही काम लेते हैं। यहूदियों के साथ यह व्यवहार केवल हृदय हीन व्यक्ति ही सहन कर सकते हैं किन्तु फासिस्ट भावना में मानवता का स्थान ही नहीं है। अभी हिटलर के यहूदियों के साथ पिछले निर्दय व्यवहार से भारत के गान्धी व अमरीका के सभापति रूजवेल्ट तक हिल गये हैं।

दूसरे नाजियों ने प्रारम्भ से ही कम्युनिस्टों के विरुद्ध जिहाद बोल रक्खा है। उनके शक्ति में जाते ही जर्मन-कारागारों में कम्युनिष्ट कैदियों की भीड़ के कारण स्थान न रहा अतएव स्पेशल जेल खोले गए खोज २ कर कम्युनिष्ट साहित्य जलाया गया। कम्युनिष्ट पार्टी के प्रेस अखबार तथा अन्ध कार्यालय ज़ब्त किए गए। अनेकों नेता गुप्त रूप से क़त्ल करवा दिए गए और अनेक आत्महत्या करने पर मजबूर किए गए। कम्युनिष्ट व्यक्ति पूँजीवाद सम्पत्ति के विरुद्ध है अतः हिटलर इसे जर्मनी से निकालने के लिए प्रत्येक जर्मन को कुछ भूभाग अवश्य देना चाहता है वह कहता है,

“Every German shall possess some concrete scrap of Germany. Give a man an acre of land and he will cease to be a communist.”

अर्थात् प्रत्येक जर्मन कुछ भूमि अवश्य रखेगा, मनुष्य को कुछ भूमि दे दो और वह कम्युनिष्ट बनने से हट जायगा । इस प्रकार नाजी कम्युनिज़्म के नाश में संलग्न हैं ।

इसके सिवा जर्मन नाजियों का क्रोध फ़्रान्स पर भी है । हिटलर अपनी जीवनी मीन केम्फ में लिखता है ।

“The third Empire must crush France No renunciation On our part will be too hard to attain, This end, since its final result would be crushing of the people that hate us most, for the annihilation of France will at least allow our people to expend elsewhere.

अर्थात् हमारा तृतीय साम्राज्य अवश्य फ़्रान्स का नाश करेगा । इस संकल्प की पूर्ति के लिए हम कड़ी से कड़ी तपस्या करने को तैय्यार हैं क्योंकि फ़्रान्स को नष्ट करने के पश्चात् हम चारों ओर अपना विस्तार कर सकते हैं ।

इस साम्राज्य-लिप्सा को ले कर नाजीदल आगे बढ़ा है । आज उन लोगों ने विश्व के सभी प्रसिद्ध प्रदेशों में अपने आदमी लगा रखे हैं । इंग्लैंड के समाचार पत्रों तक में नाजियों का प्रभाव है । बेल्जियम मेक्सिको आदि सुदूर देशों में फासिज़्म के दांव लगाए जा रहे हैं । म्युनिच पैक्ट में लोकतन्त्र ने नाजीवाद के सामने घुटने टेक दिए हैं । फ़्रान्स विश्व की शक्तियों में दूसरे स्थान पर आ गया है । इटली व जर्मनी की सहायता से स्पेन में फासिस्ट सरकार स्थापित होने

जा रही है। क्या ऐसी अवस्था में फ्रान्स की कुशल है ? क्या इंग्लैंड भूमध्य सागर में अपने अस्तित्व को कायम रख सकेगा ? क्या फ्रेंच उत्तरी अफ्रीका खतरे में नहीं है ? क्या ब्रिटिश साम्राज्य भी फासिस्ट प्रभाव से बच सकता है ? अतः अब विश्व में नाजीवाद, फासिस्टवाद या सैनिकवाद, अथवा हिटलरवाद या मुसोलिनीवाद इत्यादि इसे किसी भी नाम से पुकारें, शीघ्र ही फैलने वाला है। आशा है, केवल रूस के कम्युनिष्टवाद से, किन्तु क्या रूस इस विश्व-व्यापी-लहर का मुकाबिला कर सकेगा ? क्या उसे स्वयं एक महान् खतरा नहीं है ? यह सब भविष्य के गर्भ में है, किन्तु हमें यही आशा करनी चाहिये कि अन्त में सत्य ही की विजय होगा।

## गाँधीवाद ( Gandhism )

सत्याग्रह-आन्दोलन, दुनिया भर में वर्तमान युग का सबसे बड़ा आन्दोलन है । इसका बड़प्पन मुख्य कर इसके तात्विक और आध्यात्मिक पहलू के कारण है । लँगोटबन्द, जीर्ण, कंकाल समान महात्मा गाँधी इस आन्दोलन के रूप में विश्व के सामने एक नया, अनोखा और अत्यन्त प्रभावोत्पादक सिद्धान्त रख रहे हैं । महात्माजी के जीवन के अनेक पहलू हैं । वह आध्यात्मिक आदर्शवादी हैं । वह एक धार्मिक व्यक्ति हैं । उन्होंने स्वास्थ्य, भोजन, आहार-विहार और वैवाहिक-जीवन के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ सोचा और लिखा है । भारत से छुआछूत दूर करने का भगीरथ-प्रयत्न उनके जीवन का एक अत्यन्त आवश्यक अङ्ग है । हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता को मिटाकर ऐक्य स्थापित करने का उनका प्रयास एक विशेष महत्व रखता है । राजनीति में पिछले बीस वर्ष से वह भारत के एकमात्र कर्णधार रहे हैं । इन सबके सिवा उनका शान्ति का सन्देश, उनका विश्व-प्रेम, सम्पूर्ण मानव-समाज की हित-चिन्ता सब देशों की निर्धन जनता के साथ हार्दिक समवेदना, अहिंसा, सत्य परमात्मा में अपार विश्वास इत्यादि भी उनके जीवन के अकाट्य अङ्ग हैं । महात्माजी की बहु-मुखी प्रतिभा, अपार तेज और पैनी पैठ ने उन्हें इस योग्य बना दिया कि वे जीवन के लगभग हर क्षेत्र के लिये नए और अकाट्य

सिद्धान्त निर्धारित कर सके। इसी कारण वह आज सर्व-सम्मति से विश्व के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति समझे जाते हैं।

महात्मा गाँधी के जीवन के इन अनेक पहलुओं में से यहाँ पर केवल उन पहलुओं को बयान करना चाहते हैं जो उनके राजनैतिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। 'यंग इन्डिया' के तीनों भाग पढ़कर उनके सिद्धान्तों से काफ़ी परिचय हो जाता है। मेरी राय में महात्मा जी के सिद्धान्त कुछ इने-गिने शब्दों के अंदर आ जाते हैं। वह शब्द ये हैं—( १ ) सत्याग्रह ( २ ) अहिंसा ( ३ ) सविनय भंग ( ४ ) सत्य ( ५ ) परमात्मा। महात्माजी के लिये ये पाँचों शब्द अत्यन्त व्यापक हैं और इनकी व्याख्या उन्होंने स्वयं जगह जगह की है।

'सत्याग्रह' नामक नर्म हथियार के निर्माता महात्माजी ही हैं। इसकी अपार शक्ति में उन्हें ज़बरदस्त विश्वास है। जब उन्होंने यह हथियार उठाया था, तब बड़े बड़े विचारशील लोगों को यह खिलवाड़ मालूम होता था, किन्तु इसकी आश्चर्यजनक सफलता देखकर इसमें विश्वास करने वालों की संख्या दिन प्रति दिन बढ़ती गई। महात्मा जी का कहना है कि सत्य की सदा विजय होती है इसलिये सत्य का आग्रह करने से यानी सत्य पर दृढ़ता-पूर्वक डटे रहने से हमारी विजय अवश्य होगी। सत्याग्रह कायरता या बुज़दिली का पाठ नहीं पढ़ाता। इस हथियार को क्षमता पूर्वक चलाने के लिये शारीरिक हार्दिक और मानसिक सभी प्रकार की दृढ़ता की आवश्यकता होती है। वीरता से मरने के लिये क्षत्रियोचित जोश चाहिए। सत्याग्रह,

ईर्ष्या-द्वेष या क्रोध के बशीभूत होकर दूसरे को मारना नहीं सिखाता, बल्कि सत्य और न्याय के लिये हँसते हँसते स्वयं अपने प्राण होम करना सिखाता है। सत्याग्रह की सफलता इसी पर निर्भर है कि कोई सत्यवादी अपने सिद्धान्तों से न डिगे। जनता को सत्याग्रह का नैतिक महत्व समझाते हुये महात्माजी ने सन् १९२२ में कहा था कि “मार्शल ला जारी हो जाय, गोरखों की सेना बढ़ा दी जाय, गोरी फौजें आयें, संगीनें चलें, भाले भोंके जायें, पेट के बल रेंगना पड़े, गोलियों की वर्षा हो, अपने ही भाइयों के खून की नदियाँ बहने लगें, किन्तु सत्याग्रही को संगीन, भाले, प्लेग सभी को गिल्ली डण्डे की तरह हँसते हुये झेलते चले जाना चाहिये।

सत्याग्रह वह नैतिक हथियार है जिसका सामना शत्रु की विशाल सेना किसी प्रकार नहीं कर सकती। अभी तक संसार में सभी देशों ने खून की नदियाँ बहाकर आज़ादी हासिल की है। मारना-काटना पशुता का द्योतक है। महात्मागाँधी से पहिले संसार के किसी भी महापुरुष ने युद्ध की बर्बरता का स्थान ले सकने वाली कोई योजना नहीं निकाली थी। महात्मागाँधी जी ने ही शारीरिक बल से लड़ना त्याग कर हमें नैतिक बल से लड़ना सिखाया है। महात्माजी का सिद्धान्त है कि यदि हमारा पक्ष सच्चा है और यदि हम उस सत्य का आग्रह सच्चे और पक्के दिल से करेंगे तो हमारी विजय निश्चित है। भारत में सत्याग्रह आंदोलन शुरू करते समय उन्होंने बतलाया था कि यदि हम चार बातों पर डटे रहेंगे तो हमें सफलता अवश्य होगी।—  
( १ ) शान्ति ( २ ) स्वदेशी ( ३ ) हिन्दू - मुस्लिम एकता ( ४ )

छुआ छुत को दूर रखना । 'स्वाधीन भारत' नामक पुस्तक में आपने लिखा है कि सत्याग्रही में चार बातें होना अत्यान्तावश्यक है— ( १ ) सदाचार ( २ ) दरिद्रता ( ३ ) सत्य-पालन, ( ४ ) निर्भीकता ।

बिना सदाचार के मनुष्य में नैतिक-बल नहीं आ सकता, उसकी आत्मा का विकास नहीं हो सकता । सत्याग्रही को अपार नैतिक-बल की आवश्यकता होती है इसलिये उसका सदाचारी होना जरूरी है ।

सत्याग्रही को दरिद्रता से भी प्रेम होना चाहिये । इसका मतलब यह नहीं है कि मनुष्य के पास जो कुछ हो उसे वह फेंक दे । किन्तु धन के प्रति इतनी उदासीनता उसमें अवश्य होनी चाहिये कि अपने धन को नष्ट होता देख या अपने ऊपर दरिद्रता आते देख, वह अपने 'आग्रह' से न हट जाय । जो मनुष्य प्रेम के साथ दरिद्रता को अपनायेगा, उसके हृदय में लोभ, ईर्ष्या आदि स्वभावतः मिट जायेंगे । एक बार इंगलैंड में 'दरिद्रता-व्रत' ( Voluntary Poverty. ) पर बोलते हुए महात्मा जी ने कहा था कि—“मैंने राजनीति में घुमने के साथ साथ दरिद्रता का इसलिये व्रत लिया ताकि मैं साधारण राजनीति में पाई जाने वाली चरित्र-भ्रष्टता और असत्य से बचा रहूँ । मेरी राजनीति का आधार आध्यात्मिक है । मैंने निर्धनता को इसलिये अपनाया है क्योंकि सबके लिये धनी होना असम्भव है ।” ‘अपरिग्रह’ में सभी भाग ले सकते हैं, और जितना कम हमारे पास होगा, उतना ही कम हम इच्छा करेंगे । मैं निर्धनता से पीड़ित व्यक्तियों को निर्धनता का

स्वागत करने की शिक्षा नहीं देता; किन्तु यदि धनी लोग स्वेच्छा से निर्धनता का स्वागत करने के लिये तय्यार हो जायँ तो राष्ट्र की गम्भीर आर्थिक समस्याएं अत्यन्त सरलता के साथ मुलभार्ई जा सकती हैं।”

जो मनुष्य सत्य-पालन के महत्व को नहीं समझता वह सत्याग्रह क्या करेगा। सत्य का आग्रह करने के लिये आवश्यक है कि हम सत्य की वेदी पर अपने प्राण होम करना जानते हों। “सत्यमेव जयते, सत्यान्नास्तिपरो धर्मः” पर हमें विश्वास हो।

सत्याग्रही दुर्बल या कायर मनुष्यों का हथियार नहीं है। वह निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance) से बिल्कुल एक अलग चीज़ है। वह एक तरह का सक्रिय प्रतिरोध (Active Resistance) है इस हथियार के इस्तेमाल में प्रचण्ड क्रिया की आवश्यकता होती है। इसलिये सत्याग्रही में निर्भीकता का होना आवश्यक है। उसे इस विश्वास के साथ कि सत्य की सदा जय होती है, अपने सत्य पर डटा रहना चाहिये। इस आग्रह के कारण जो भी कष्ट उठाना पड़े उसे वह हँसता हुआ सह ले। महात्मा जी कहते हैं, “सत्य को मरण पर्यन्त त्यागना नहीं चाहिये, सत्य के लिये सत्याग्रही जेल को महल समझें, जेल के दरवाज़ों को स्वतंत्रता का द्वार मानें।”

सत्याग्रह क्या चीज़ है—यह समझते हुए महात्मा जी कहते हैं कि “सत्याग्रह शारिरिक बल नहीं है। सत्याग्रही शत्रु को कष्ट नहीं देता। सत्याग्रही शत्रु का नाश नहीं चाहता। सत्याग्रही बन्दूक आदि अस्त्रों का उपयोग नहीं करता। सत्याग्रह के प्रयोग में किसी तरह के

भी दोष का सर्वथा अभाव है। सत्याग्रह विशुद्ध आत्मिक-शक्ति है। आत्मा सत्य स्वरूप है। इसलिये आत्मा की शक्ति को सत्याग्रह कहते हैं।

आगे चलकर आप लिखते हैं,—“सत्याग्रह सब संकटों को दूर करनेवाली संजीवनी बूटी है। यह हमारी कामधेनु है। यह सत्याग्रही और उसके विपत्ती दोनों को लाभ पहुँचाती है। यह सदा विजयिनी है। उदाहरण के लिये, हरिश्चन्द्र सत्याग्रही थे, प्रह्लाद सत्याग्रही थे, मीरा सत्याग्रही थीं। दानियाल, मुकरात और वे अरब जिन्होंने फ्रेंच तोपों की अग्नि में अपनी आहुति दी, सत्याग्रही थे। इन सब दृष्टान्तों में हम देखते हैं कि सत्याग्रही अपने शरीर की परवाह नहीं रखता, वह जिस बात को सत्य समझता है उसे नहीं छोड़ता। पराजय का शब्द उसके कोप में ही नहीं, वह शत्रु का नाश नहीं चाहता। शत्रु पर रोष नहीं करता बल्कि उस पर दयाभाव रखता है।”

“सत्याग्रही दूसरों की गलत नहीं देखता, वह स्वयं अपने गलत पर भिड़ जाता है। वह समझता है कि दूसरे भी समय आने पर वैसा ही करेंगे। सत्याग्रही का कार्य ही उसका व्याख्यान है। सत्याग्रह वायु सा व्यापक है। वह लगनी बीमारियों की तरह छूत में फैलता है। इससे सिद्ध होता है कि छोटे बड़े, स्त्री-पुरुष सब सत्याग्रही हो सकते हैं। सत्याग्रही सेना में किसी का बहिष्कार नहीं। उसके द्वारा किसी पर अत्याचार नहीं हो सकता।”

‘सत्याग्रह’ की तरह महात्माजी का ‘अहिंसा’ शब्द भी अत्यन्त

व्यापक है। वह लिखते हैं, “आत्मा ज्ञानमय है, उसमें प्रेम का भाव प्रज्वलित होता है। अज्ञान से यदि कोई हमें कष्ट देगा तो हम उसे प्रेम-भाव से जीत लेंगे। ‘अहिंसा परमोधर्मः’ इस शक्ति का सबूत है। अहिंसा सुषुप्ति की हालत है। अहिंसा का जागृत रूप प्रेम है, प्रेम के वश यह संसार चलता है।”

अहिंसा का मतलब केवल किसी के शरीर को चोट न पहुँचाना ही नहीं है, बल्कि किसी के सच्चे विचारों को दबाना भी हिंसा है। मनुष्य को इस प्रकार की हिंसा भी नहीं करनी चाहिये। जो हमारे विचारों की हिंसा कर रहा हो उसके विरुद्ध हम सत्य की स्थापना के लिये सत्याग्रह कर सकते हैं। ‘यंग इन्डिया’ के पहले भाग में ‘द्वेष नहीं प्रेम’ शीर्षक अध्याय में गाँधीजी ने लिखा है कि अपने शत्रु को भी हम प्रेम से अपना मित्र बना सकते हैं। हिंसक जन्तु तक अहिंसा तथा प्रेम के ईश्वरीय गुण का आदर करते हैं, यदि हम उनके पास अहिंसा में पूर्ण विश्वास रखते हुये जावें तो वह हरगिज़ हमारी हिंसा नहीं कर सकते। अहिंसा के इन तात्त्विक सिद्धान्तों को राजनीति में लाकर महात्माजी ने विश्व की महान् सेवा की है। जिस दिन संसार अहिंसा और सत्याग्रह के वास्तविक महत्व को समझने लगेगा, उस दिन परस्पर का वैमनस्य युद्ध की बर्बरता इत्यादि अमानुषिक चीज़ें लुप्त हो जावेंगी और ईश्वरीय प्रेम की विशुद्ध सरिता मानव-हृदय में हिलोरेँ मारने लगेगी, अभी गाँधी युग है। कौन कह सकता है कि विश्व का कितना भाग और कब तक उनके सिद्धान्तों से प्रभावित होगा। गाँधीजी के सिद्धान्त कष्ट प्रियता, सहन शीलता,

सत्य परायणता त्याग और आचरण की उच्चता चाहते हैं। मनुष्य मनुष्य में प्रेम तथा सम्पूर्ण विश्व में शांति करने का यही एक कारगर उपाय नज़र आता है।

माक्सवाद श्रेणी युद्ध चाहता है। वह मज़दूरों को भड़काकर उनसे अपने भाई पूँजीपतियों की हत्या करवाना चाहता है। लेनिनवाद ने हजारों मनुष्यों का खून कराया। इन्हें शस्त्रों की शक्ति में विश्वास है, ये शस्त्रों की शक्ति के ही उपासक हैं। इसके विपरीत महात्माजी का कहना है कि “शस्त्र शब्द ही अधर्म सूचक है।” इसी के प्रभाव से संसार में दारुण युद्ध हुआ करते हैं। मार्क्स को मज़दूरों के प्रति समवेदना थी। लेनिन अपने को मज़दूर ही समझता था। ये लोग मज़दूरों का शोषण होते देख बेचैन हो उठे थे। उनके प्रति होने वाले आर्थिक-अत्याचार से इनके हृदय विलाप कर रहे थे। मेहनत करने वालों को पेट भर खाना क्यों न मिले, इसी ख्याल के आवेश में उन्होंने श्रमजीवियों को हथियार उठाने के लिये आह्वान किया। मज़दूरों और किसानों को भूखों मरते देख महात्माजी का हृदय उनसे कहीं अधिक विह्वल हो उठा है, यहाँ तक कि उन्होंने अपने भोजन वस्त्र का व्यय एक साधारण मज़दूर की आमदनी से भी कम कर रक्खा है। महात्माजी कर्मयोगी हैं। मार्क्स इत्यादि भी कर्मवीर थे; किन्तु महात्माजी ने उन लोगों की तरह मज़दूरों और किसानों को पूँजीपतियों और सरकार के खिलाफ़ हथियार उठाकर उनकी हत्या करने का आदेश नहीं दिया, हत्या पाप है। शत्रु को प्रेम से जीतना चाहिये मज़दूर और पूँजीपति सब एक घर के हैं, सब कुटुम्बी हैं, सब भाई

हैं। महात्माजी पूँजीपतियों से कहते हैं कि वे अपने को किसानों और मज़दूरों का ट्रस्टी समझें, अपने ट्रस्ट के उत्तरदायित्व को पूरा करें और मज़दूरों को अपना भाई मानें। इसी तरह का उपदेश वे किसानों और मज़दूरों को देते हैं। मोटे रूप में यही लेनिनवाद और गाँधीवाद में अन्तर है। भारत की आत्मा और भारतीय परिस्थिति दोनों को गाँधीजी ने खूब समझा है। वह जानते हैं कि धर्मपरामर्श, कर्तव्यपरायण और वसुधैव कुटुम्बकम् के सिद्धान्त में विश्वास रखने वाले भारत की उर्वरा भूमि में कम्युनिज़्म के बीज का बोना हित कर न होगा। इन तीनों सिद्धान्तों को ही वह अन्त में समस्त संसार के लिये हितकर मानते हैं। वह यह भी जानते हैं कि मज़दूरों व पूँजीपतियों का विरोध देश के और खासकर हमारे आजकल के स्वाधीनता संग्राम के लिये घातक है देश की अधिकांश जनता किसान है; किसानों की भलाई श्रेणी युद्ध से हो ही नहीं सकती।

फासिस्टवाद व नाजीवाद संकीर्ण राष्ट्रीयता, राज्य, सत्ता और वैभव के ओवश में आकर युद्ध को प्राकृतिक वस्तु बताते हैं। निर्बल का शोषण, व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अपहरण, स्त्री समाज को उसके अधिकार से वंचित रखना सभी उन्हें न्यायपूर्ण प्रतीत होते हैं। मुसोलिनी व हिटलर आज अपनी कट्टर, विश्व-शांति घातक नीति के कारण राजनीतिक जगत के प्रमुख व्यक्ति हो रहे हैं। इधर महात्मा गाँधी सत्य अहिंसा, न्याय और विश्व-प्रेम का पाठ पढ़ा रहे हैं। तीनों महान हैं। किन्तु इनमें किस की शुभ-कामना व्यापक है। तीनों अपने अपने राष्ट्र का उत्थान चाहते हैं, किन्तु इनमें किसके उत्थान के तरीके दूसरों के

लिये घातक हैं ? उधर तलवार पर भरोसा है; इधर आत्मा की अपार शक्ति है। वह मार काट कर, लूट खसोट कर, आतंक की नींव पर अपना वैभव प्रासाद खड़ा करना चाहते हैं। इधर अपने अस्तित्व को मिटाकर विश्वप्रेम की कुटिया निर्माण की जा रही है। इन्हीं बातों में दोनों सिद्धान्तों का अन्तर छिपा है। मार्क्सवाद, फासिस्टवाद, नाजीवाद, लेनिनवाद इन सब से गाँधीवाद एक सर्वथा भिन्न वस्तु है। विश्व के लिये कौन अधिक हितकर है इसका निर्णय पाठक स्वयं कर सकते हैं।

महात्मागांधी का जीवन, जैसा कि उन्होंने स्वयं अपनी आत्मकथा में कहा है, सत्य के साथ प्रयोग करना रहा है। आपकी आत्मकथा का आपही का दिया हुआ अँग्रेजी नाम “Experiments with truth” है। जीवन को सत्य की कसौटी पर कस कर जो सिद्धान्त गाँधी जी ने निकाले हैं वह प्राणी-मात्र का भला करने वाले क्योंकर न हों। आपका फिलिसफ़ा (Philosophy) जर्मन तत्ववेत्ता नीत्शे के फिलिसफ़े के ठीक विपरीत है। यदि विश्व के एक गिरे पर नीत्शे है तो गाँधीजी दूसरे गिरे पर। नीत्शे भौतिकवादी है; वह शारीरिक शक्ति में विश्वास करता है; निर्बल का पीस दिया जाना उसे तर्क-संगत ही नहीं बल्कि प्रकृति-संगत भी प्रतीत होता है, एक कुदरती चीज़ मालूम होती है। गाँधीजी इस नश्वर-शरीर को इतना महत्व नहीं देते। आत्मा की अपार शक्ति में उनका दृढ़ विश्वास है। आत्मबल ही वास्तविक बल है। यही कारण है कि महात्मा गाँधी बड़े से बड़ा काम आत्मा ही की आज्ञा से प्रारम्भ करते हैं और जटिल से जटिल समस्याएं उसी ‘अनहद नाद’ की सहायता से इल कर डालते हैं। उनको अपनी

आन्तरिक पुकार ( Inner voice ) पर इतना दृढ़ विश्वास है कि उसके अनुसार कार्य करने के लिये वह अपने मित्रों, देश के अन्य नेताओं और सम्पूर्ण जन मत तक की अवहेलना कर डालते हैं। प्रायः देखा गया है कि अन्त में उनकी आत्मा ( Inner voice ) की प्रेरणा ही देश और विश्व के लिये हितकर साबित हुई है। उनके सामने जब कोई जटिल प्रश्न उपस्थित होता है तब वह किसी और की सहायता न लेकर इसी अन्तर्निनाद की पुकार सुनने की कोशिश करते हैं और जब वह पुकार सुनाई दे जाती है तो उसी की घोषणा कर देते हैं। उनका यह आत्म—विश्वास सुकरात (सोक्रेटीज़) के विश्वास से मिलता जुलता है। उस महात्मा को भी अपनी आत्मा में अपार विश्वास था।

गाँधीजी के फ़लसफ़े से सम्बन्ध रखने वाली दूसरी बात उनका 'हृदय परिवर्तन' ( Change of Heart ) में विश्वास है। शत्रु हो या मित्र, सिद्धान्तों की विषमता अन्य किसी कारण से विवाद उपस्थित होने पर वह सबसे हृदय-परिवर्तन की आशा रखते हैं। केवल व्यक्ति ही नहीं, बड़े से बड़े समुदाय अथवा समाज के एकाकी हृदय परिवर्तन तक में उन्हें पक्का विश्वास है और इस विश्वास ने भारत के आजकल के राजनैतिक जगत में बहुत बड़ा काम किया है।

आज गाँधीजी ने राजनीति को मानव-कल्याण का विज्ञान बना दिया है और उसमें सांस्कृतिक और नैतिक विचारों को स्थान देकर उसे उन्नीसवीं सदी के गर्हित दर्जे से निकाल कर एक स्वास्थ्य प्रद और सदाचार पूर्ण दर्जे पर पहुँचा दिया है गाँधीजी की अजेयता को प्रोफ़ेसर गिलबर्ट मरे ने नीचे लिखे नये तुले शब्दों में बयान किया है:—

“ऐसे आदमी के साथ सावधानी से पेश आओ, जिसे न सांसारिक वासनाओं की रत्ती भर चिंता है, न आराम, या प्रशंसा, पद-वृद्धि की बल्कि जो उस काम को करने का निश्चय करलेता है जिसे वह ठीक समझता है। शत्रु की हैसियत से ऐसा आदमी भयंकर और दुखदायी है, क्योंकि उसके शरीर पर तो तुम आसानी से विजय प्राप्त कर सकते हो, किन्तु उसकी आत्मा पर तुम्हारा डरा भी कब्ज़ा नहीं हो सकता।”

“आज लाखों पुरुषों, स्त्रियों और बालकों पर गाँधीजी का अभिप्राय प्रभाव है। इसका क्या कारण है? लॉवेल ने ठीक ही कहा है, “मालूम होता है कि ईश्वर की यही इच्छा है कि व्यक्तियों के पुरुषत्व की भाँति राष्ट्रों के पुरुषत्व की परीक्षा भी बड़े बड़े संकटों या बड़े बड़े सुअवसरों द्वारा होती रहे। यदि पुरुषत्व बाक़ी है तो वह भारी संकट को भारी सुअवसर बनालेता है; और यदि पुरुषत्व बाक़ी नहीं रहा तो बड़े से बड़ा सुअवसर भी भारी संकट में बदल जाता है।” गाँधीजी ने भी देश के भारी संकट को एक भारी सुअवसर बना डाला और एक ऐसी नई क्रान्ति का श्री गणेश कर दिया जो रक्तंजित नहीं, जो दूसरों को पीड़ा देने के बजाय स्वयं पीड़ा का आवाहन करती है, और जो शत्रु पर विजय प्राप्त करने के स्थान पर उसका मत परिवर्तन करने की आशा रखती है। वास्तव में गाँधीजी ने सारे संसार से उन सब व्यवस्थाओं को मिटा देने का बीड़ा उठाया है जो भौतिक, राजनैतिक या आर्थिक किसी रूप में भी दासत्व का प्रतिपादन करने वाली हों। यही कारण है कि आज वह सम्पूर्ण विश्व की श्रद्धा के पात्र हैं।

आन्तरिक पुकार ( Inner voice ) पर इतना दृढ़ विश्वास है कि उसके अनुसार कार्य करने के लिये वह अपने मित्रों, देश के अन्य नेताओं और सम्पूर्ण जन मत तक की अवहेलना कर डालते हैं। प्रायः देखा गया है कि अन्त में उनकी आत्मा ( Inner voice ) की प्रेरणा ही देश और विश्व के लिये हितकर साबित हुई है। उनके सामने जब कोई जटिल प्रश्न उपस्थित होता है तब वह किसी और की सहायता न लेकर इसी अन्तर्निनाद की पुकार सुनने की कोशिश करते हैं और जब वह पुकार सुनाई दे जाती है तो उसी की घोषणा कर देते हैं। उनका यह आत्म—विश्वास सुकरात (सोक्रेटीज़) के विश्वास से मिलता जुलता है। उस महात्मा को भी अपनी आत्मा में अपार विश्वास था।

गाँधीजी के फ़लसफ़े से सम्बन्ध रखने वाली दूसरी बात उनका 'हृदय परिवर्तन' ( Change of Heart ) में विश्वास है। शत्रु हो या मित्र, सिद्धान्तों की विषमता अन्य किसी कारण से विवाद उपस्थित होने पर वह सबसे हृदय-परिवर्तन की आशा रखते हैं। केवल व्यक्ति ही नहीं, बड़े से बड़े समुदाय अथवा समाज के एकाकी हृदय परिवर्तन तक में उन्हें पक्का विश्वास है और इस विश्वास ने भारत के आजकल के राजनैतिक जगत में बहुत बड़ा काम किया है।

आज गाँधीजी ने राजनीति को मानव-कल्याण का विज्ञान बना दिया है और उसमें सांस्कृतिक और नैतिक विचारों को स्थान देकर उसे उन्नीसवीं सदी के गहिर्त दर्जे से निकाल कर एक स्वास्थ्य प्रद और सदाचार पूर्ण दर्जे पर पहुँचा दिया है गाँधीजी की अजेयता को प्रोफ़ेसर गिलबर्ट मरे ने नीचे लिखे नये तुले शब्दों में बयान किया है:—

“ऐसे आदमी के साथ सावधानी से पेश आओ, जिसे न सांसारिक वासनाओं की रत्ती भर चिंता है, न आराम, या प्रशंसा, पद-वृद्धि की बल्कि जो उस काम को करने का निश्चय करलेता है जिसे वह ठीक समझता है। शत्रु की हैसियत से ऐसा आदमी भयकर और दुखदायी है, क्योंकि उसके शरीर पर तो तुम आसानी से विजय प्राप्त कर सकते हो, किन्तु उसकी आत्मा पर तुम्हारा डरा भी कब्ज़ा नहीं हो सकता।”

“आज लाखों पुरुषों, स्त्रियों और बालकों पर गाँधीजी का अमिट प्रभाव है। इसका क्या कारण है? लॉवेल ने ठीक ही कहा है, ”मालूम होता है कि ईश्वर की यही इच्छा है कि व्यक्तियों के पुरुषत्व की भाँति राष्ट्रों के पुरुषत्व की परीक्षा भी बड़े बड़े संकटों या बड़े बड़े सुअवसरों द्वारा होती रहे। यदि पुरुषत्व बाक़ी है तो वह भारी संकट को भारी सुअवसर बनालेता है; और यदि पुरुषत्व बाक़ी नहीं रहा तो बड़े से बड़ा सुअवसर भी भारी संकट में बदल जाता है।” गाँधीजी ने भी देश के भारी संकट को एक भारी सुअवसर बना डाला और एक ऐसी नई क्रान्ति का श्री गणेश कर दिया जो रक्तंजित नहीं, जो दूसरों को पीड़ा देने के बजाय स्वयं पीड़ा का आवाहन करती है, और जो शत्रु पर विजय प्राप्त करने के स्थान पर उसका मत परिवर्तन करने की आशा रखती है। वास्तव में गाँधीजी ने सारे संसार से उन सब व्यवस्थाओं को मिटा देने का बीड़ा उठाया है जो भौतिक, राजनैतिक या आर्थिक किसी रूप में भी दासत्व का प्रतिपादन करने वाली हों। यही कारण है कि आज वह सम्पूर्ण विश्व की श्रद्धा के पात्र हैं।

इस अध्याय को समाप्त करने से पहले हमें फिर एक बार सत्याग्रह सिद्धान्त की ओर लौटना पड़ता है। सत्याग्रह का आधार प्रेम और अहिंसा हैं। अहिंसा केवल एक अभावात्मक शक्ति नहीं है, यह वह प्रबल भावात्मक शक्ति है जो 'दूसरों को नहीं जलाती, पर स्वयं जलकर भस्म होना सिखानी है।' इसी का विकसित रूप प्रेम है। सत्याग्रह वह नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति है जो अपनी माँगों को पूरी कराये बिना नहीं रहती और जो अत्यन्त क्रियाशील, अग्रसर और तेजस्विनी है। वास्तव में, मनुष्य के जितने सद्गुणों का अब तक पता चला है सत्याग्रह उन सबका समुदाय है। क्योंकि सत्य इन सब सद्गुणों का मुख्य स्रोत है और अहिंसा या प्रेम उसका आच्छादन है। इस प्रकार सत्याग्रह में धृणा और कुत्सा, भय और कायरता, क्रोध और प्रतिहिंसा का स्थान प्रेम, साहस, धैर्य, आत्मपीड़न और आत्मशुद्धि लेती हैं, जिससे सम्पदा सेवा के आगे सरमुका देती है और शत्रु पर विजय प्राप्त नहीं की जाती बल्कि उसके विचारों और भावों को अनुकूल बनाने की चेष्टा की जाती है।

गाँधीजी मनुष्य मात्र को सत्याग्रही होने की शिक्षा देते हैं। उनका कहना है कि भय का केन्द्र हमीं हैं। यदि एक बार हम भय और स्वार्थपरता को छोड़ दें तो हम स्वयं मृत्यु का अलिंगन करने को तैयार हो जावें। हर सत्याग्रही सत्य की खोज करने वाला है, इसलिये उसे मनुष्य का, राज्य का, समाज का दरिद्रता या मौत का सभी का भय छोड़ देना चाहिये।

गाँधीवाद के अन्तर्गत एक और विशेष ध्यान देने योग्य बात

घरेलू उद्योग-धन्धों में विश्वास है। वर्तमान काल के विकट संघर्ष जिन्हें हम पूँजीवाद, फासिस्टवाद वा साम्राज्यवाद के नाम से पुकार चुके हैं १८ वीं व १९ वीं सदी की औद्योगिक क्रान्ति का परिणाम हैं। जब तक यह औद्योगिकवाद जारी रहेगा, यानी जब तक शक्ति-शाली राष्ट्र अपने अपने यहाँ के स्वाधीन घरेलू उद्योग-धन्धों की जगह बड़े बड़े कल कारखाने कायम कर अपनी ज़रूरत से ज़्यादा माल पैदा करते रहेंगे और उस माल को ज़बरदस्ती निर्बल राष्ट्रों के गले मढ़कर उनका धन चूसने की इच्छा करते रहेंगे और इस अन्याय के लिये विज्ञान का दुरुपयोग होता रहेगा, तब तक बाज़ारों की कमी के कारण राष्ट्रों के स्वार्थ अवश्य परस्पर टकराते रहेंगे और अन्तर्राष्ट्रीय जगत में महासमर के बादलों का हट जाना असम्भव रहेगा। गाँधी जी ने इस सत्य को बहुत अच्छी तरह समझा है, और उनका खादी में अटूट विश्वास तथा गाँवों के उद्योग-धन्धों को फिर से जीवित करने का आन्दोलन इसी का परिणाम है।

---

# राष्ट्रवाद एवं अन्तर्राष्ट्रवाद

( Nationalism and Internationalism )

राष्ट्रवाद के दो अर्थ हैं । एक तो यह राजनैतिक कार्य के एक सिद्धान्त का अर्थ रखता है और इसका दूसरा अर्थ राष्ट्रीय अधिकारों की एक ध्युरी है । राष्ट्रीय अधिकारों से सम्बन्ध रखनेवाले अर्थ में इसके दो पहलू देखने को मिलते हैं ( १ ) राजनैतिक राष्ट्रवाद ( Political Nationalism ) ( २ ) सांस्कृतिक राष्ट्रवाद ( Cultural Nationalism ) ।

राजनैतिक राष्ट्रवाद का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक राष्ट्र स्वतन्त्र होना चाहिए और जहाँ तक सम्भव हो सके एक राज्य के अन्तर्गत एक ही राष्ट्र ( Nation ) के लोग होने चाहिये । जान स्टुअर्ट मिल ( John Stuart Mill ) ने राजनैतिक राष्ट्रीयता के पक्ष में बहुत कुछ लिखा है । आप का कहना है “साधारणतया प्रत्येक राज्य के लिये यह एक आवश्यक शर्त होनी चाहिए कि राज्य की सीमा राष्ट्र की सीमा को ढकती हो ( It is in general a necessary condition of the institution that the boundries of government should coincide in the main with those of nationalities .” ) योरोपीय महायुद्ध के अन्त में रम्जे मूर ( Ramsay Muir ) ने कहा था, ” यदि सारा यूरोप

राष्ट्रीय रेखाओं पर विभाजित किया जा सके तो भविष्य में लड़ाई न होने की एक अच्छी आशा की जा सकती है ।” ( If the whole of Europe could be completely divided on nation lines there might be a good hope of ceasation of strife. )” अतः राजनैतिक राष्ट्रवाद का ध्येय एक राष्ट्र एक राज्य ( One state one nation ) है ।

‘राजनैतिक राष्ट्रीयता की उक्त धारणा के खिलाफ भी बहुत कुछ कहा गया है । बहुत से लोग तो इसे एक असम्भव कल्पना ही कहते हैं क्योंकि इसके अनुसार विश्व के सभी बड़े राज्यों के टुकड़े टुकड़े कर डालने चाहिए किन्तु बड़े राज्य ऐसा नहीं होने देगे । कुछ लोगों का कहना है कि राष्ट्रवाद के सिद्धान्तों के अनुसार तो ग्रेट ब्रिटेन को भी ईंगलैण्ड, स्कॉटलैण्ड और वेल्स नामक तीन टुकड़ों में विभाजित करना होगा और संयुक्त राज्य अमरीका इत्यादि के तो नहीं मालूम कितने टुकड़े हो जाएँगे इसके सिवा सबसे बड़ी कठिनता तो यह है कि बहुत सी जातियाँ ( Nationalities ) मुख्यकर मध्य यूरुप की जातियाँ एक दूसरे से मिली हुई फैली हैं । अतः स्वतन्त्र राज्य किस प्रकार बनाए जा सकते हैं । ऐसा करने के लिए एक जाति के व्यक्तियों को बाध्य करके एक भूभाग में बसाया जाना किसी को पसन्द नहीं हो सकता है । इसके सिवा यदि यह मान लिया जाय कि राजनैतिक राष्ट्रवाद के सिद्धान्त सम्भव हैं, तो भी आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से बांछनीय नहीं हैं । राजनैतिक दृष्टि से यह बुराई पैदा हो जायगी कि वर्तमान बड़े बड़े

राज्यों के स्थान पर सहस्रों छोटे छोटे राज्य हो जावेंगे जिनके कारण अन्तर्राष्ट्रीय - सहयोग असम्भव हो जावेगा। इन असंख्य छोटे छोटे राज्यों में लड़ाइयों की अधिक सम्भावना रहेगी। आर्थिक भाव में भी राजनैतिक राष्ट्रवाद एक अच्छी वस्तु नहीं है। इस ज़माने में बड़े २ कारखानों की आवश्यकता है और छोटे २ राज्यों के पास इतना धन नहीं होगा कि वह बड़ी २ स्कीमों पर हाथ लगा सकें। बहुत से राज्यों के पास समुद्र-तट नहीं रहेगा और उनके आयात निर्यात के लिये कठिनाइयाँ बढ़ जायेंगी जैसा कि आज मध्य यूरोप के बहुत से राज्यों के साथ हो रहा है। अन्त में “एक राज्य एक राष्ट्र” के सिद्धान्त सामाजिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से भी वाञ्छनीय वस्तु नहीं है। जातियों के अलग अलग हो जाने से विचारों एवं संस्कृतियों का संघर्ष होना बन्द हो जायेगा संघर्ष एवं आलोचना से विचार स्वच्छ हुआ करते हैं और संस्कृति का उत्थान होता है, जैसा कि लार्ड एक्टन ने कहा है कि “( Uniformity will lead to stagnation and decadence )” प्रति दिन का एक-सा ढर्रा संस्कृति को रसातल ले जायेगा।

राजनैतिक राष्ट्रवाद की उक्त आलोचना इस आधार पर अवलंबित है कि राजनैतिक राष्ट्रवाद राष्ट्र स्वातंत्र्य की चरम सीमा का समर्थक है। किन्तु वास्तव में राजनैतिक राष्ट्रवाद का कोई भी प्रवर्तक यह नहीं चाहता है कि इंग्लैंड, वेल्स और स्कॉटलैंड अलग कर दिये जायँ। उनका कहना केवल इतना ही है कि जिस राज्य के अन्तर्गत कोई जाति ( Nationality ) पददलित की जा रही है, जहाँ उसको

विदेशी समझा जाता है। जहाँ वह अपने ऊपर राज करने वाली जाति से असन्तुष्ट है और जो जाति स्वतंत्रता चाहती है, उसे अवश्य स्वतन्त्र कर दिया जाना चाहिए। भूतकाल में ऐसी जातियों ने किसी न किसी प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली है और भविष्य में भी पददलित जातियाँ स्वतन्त्र हो कर ही रहेंगी। अतः हमें उनके अधिकार का सम्मान करना चाहिये। इतिहास हमें बतलाता है कि यदि पददलित जातियों को उनपर राज्य करने वाली जाति ने अपने आप स्वतन्त्रता दे दी है तो यह दोनों के हक में हितकर रहा है और यदि उसे क्रान्ति द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करना पड़ी है तो सम्बन्धित राज्य को विशेष हानि उठानी पड़ी है। अतः राजनैतिक राष्ट्रवाद का ध्येय सत्यता एवं मानव समाज का हित है।

**सांस्कृतिक राष्ट्रवाद**—सांस्कृतिक राष्ट्रवादियों का कहना है कि राष्ट्रवाद की वास्तविक धारणा यह नहीं है कि प्रत्येक जाति एक स्वतन्त्र जाति हो जाय किन्तु उसका वास्तविक अर्थ यह है कि प्रत्येक जाति की भाषा, धर्म तथा संस्कृति की रक्षा होनी चाहिए। प्रो० डिनर्न का कहना है कि मुझे राष्ट्रवाद एक राजनैतिक प्रश्न नहीं प्रतीत होता है, यह तो वास्तव में एक सांस्कृतिक एवं अध्यात्मिक प्रश्न है “सांस्कृतिक राष्ट्रवाद जिन बातों का समर्थन करता है वह यह हैं—

( १ ) जीवित रहने का अधिकार—किसी जाति के अस्तित्व को न मिटाया जाय।

( २ ) भाषा का अधिकार—प्रत्येक जाति को स्कूलों, सार्व-

जनिक सभाओं व मंदिरों इत्यादि में अपनी भाषा का प्रयोग करने का अधिकार हो ।

( ३ ) जातीय परम्परा व रूढ़ियों पर चलने का अधिकार न छीना जाय ।

( ४ ) जाति को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता रहे ।

( ५ ) कानून के सामने प्रत्येक जाति बराबर समझी जाय ।

किन्तु वास्तविकता यह है जब किसी जाति की कोई भी सांस्कृतिक स्वतन्त्रता छीनी जाती है और जाति के रोने चिल्लाने पर राज्य करने वाली जाति ध्यान नहीं देती है, तब उस जाति का पहले राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना आवश्यक होजाता है । यही कारण है कि संसार की पराधीन जतियां सांस्कृतिक स्वतन्त्रता की ओर ध्यान न देकर राजनैतिक-स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए बढ़ती हुई मालूम पड़ती हैं और यही कारण है कि संसार के प्रत्येक देश में राजनैतिक राष्ट्रवाद का ही बोल बाला है ।

उक्त विवेचन हमें इस निष्कर्ष पर लाता है कि आज भारत को अपने सांस्कृतिक व राजनैतिक दोनों प्रकार के उत्थान के लिये राजनैतिक राष्ट्रवाद का समर्थन करना चाहिये क्योंकि संस्कृति की रक्षा बिना स्वतन्त्रता प्राप्त किये नहीं हो सकती है । हमारे देश के सम्प्रदायवादी नेता सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के समर्थक बनते हैं किन्तु उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दू संस्कृति व मुसलिम संस्कृति का नकली चोगा पहिनने से देश को लाभ की अपेक्षा अधिक हानि होगी ।

यह एक विचित्र बात है कि राष्ट्रवादिता एक परतंत्र देश के लिये भिन्न अर्थ रखती है। पराधीन देशों के लिये राष्ट्रवादिता एक बांछनीय वस्तु है क्योंकि इस भावना के प्रसार से ही देश स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है। जो भावना समाज के विकास के लिये अत्यन्त आवश्यक वस्तु है किन्तु स्वतन्त्र देशों को राष्ट्रवादिता एक संकीर्ण तथा स्वार्थ पूर्ण भावना है। यह जनता को अपने राष्ट्र के हित के लिये अन्य राष्ट्रों का हनन करने को प्रोत्साहित करती है इटली के फामिस्ट तथा जर्मनी के नाज़ी राष्ट्रवादी हैं; यह दोनों दल निश्च-शान्ति विरोधी एवं युद्ध प्रेमी भी हैं अतः यह स्पष्ट है कि यदि परतंत्र देश की राष्ट्रवादिता साम्राज्य-विरोधिनी होती है तो स्वतन्त्र देश की यही भावना साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन देती है। यही कारण है कि विश्व के सम्पूर्ण राष्ट्रवादी स्वतन्त्र देश चाहे वह जर्मनी हो चाहे जापान, साम्राज्यवादी हैं। इस महान अन्तर का कारण स्पष्ट ही हैं। स्वतन्त्र देश अपने राष्ट्र को मुटु एवं सर्वोत्तम बनाने के आवेश में अन्य राष्ट्रों को अपने आधीन लाने का प्रयास करता है और इस प्रकार साम्राज्यवादी हो जाता है। क्योंकि उसे अपने को सबसे ऊँचा देखने की अभिलाषा अन्धा बना देती है और वह राष्ट्रवादिता के पवित्र नाम की ओट से अपने अन्य भाइयों का रुधिर पान करने को तैयार हो जाता है। पराधीन देश में जनता राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर अपने ऊपर से साम्राज्यवादी सत्ता को हटाने के अभिप्राय से साम्राज्यवाद विरोधिनी आवाज़ उठाती है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राष्ट्रवादिता पराधीन देशों के लिए एक आवश्यक वस्तु है और वहाँ पर इस भावना को सभी तरह

प्रोत्साहन मिलना चाहिये । किन्तु स्वतन्त्र देश को यह भावना स्वार्थी एवं संकीर्ण बना देती है अतः वहाँ पर इसका स्थान अन्तर्राष्ट्रवादिता को मिलना चाहिये ।

अन्तर्राष्ट्रवाद का मुख्य सिद्धान्त 'वसुधैव कुटुम्ब' है । वह सम्पूर्ण विश्व को प्रेम सहयोग एवं सहकारिता के सूत्र में बँधा हुआ देखना चाहता है । अतः अन्तर्राष्ट्रवाद सर्वशक्तिमान राज्य ( Sovereign State ) का विरोधी है । उसका कहना है प्रत्येक राज्य को अपनी पूर्ण प्रभुता की भावना कुछ ढीली करनी चाहिए और उसे अपने को अन्तर्राष्ट्रीय नियमों द्वारा बँधा हुआ समझना चाहिए । यदि विश्व के सभी राज्य अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का पालन करना अपना कर्तव्य समझने लगेंगे तो युद्ध की सम्भावना विनष्ट हो जावेगी । अन्तर्राष्ट्रवादिता मानव-समाज के हित की कामना रखती है और वह विश्व में फैली हुई अशान्ति तथा शोषण को दूर करके शान्ति का साम्राज्य स्थापित करना चाहती है । अन्तर्राष्ट्रवादियों को अत्यन्त उदार व्यक्ति समझना चाहिये क्योंकि उनका यह मेरा और यह तुम्हारा को दायरा बहुत चौड़ा है । अन्तर्राष्ट्रवाद हमारे प्रेम, समवेदना व सहयोग को संकीर्णता से निकालकर विश्व व्यापी बनाना चाहता है । विश्व की शान्ति अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के समुचित समन्वय पर अवलम्बित है । राष्ट्रवाद इस शान्ति को दिन प्रति दिन दूर फेकता जा रहा है । आज जर्मनी का राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध का समर्थक है । आज इटली राष्ट्रीयता के उन्माद में सभी तरह की स्वतन्त्रता का हनन कर रहा है । नीचे कुछ पंक्तियों में हम अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर विचार करते हैं ।

आज विश्व में अन्तर्राष्ट्रवादियों के तीन समुदाय हैं। पहिला समुदाय वह है जो कि युद्ध के बाद क्रायम किये गये अन्तर्राष्ट्रीय-संघ (League of nations) की क्षमता में विश्वास करता है। यह समुदाय निर्जीव लीग के पुनर्संगठन द्वारा विश्व को भावी संग्राम से बचाना चाहता है आज कल इस समुदाय में ग्रेट ब्रिटेन के उदार दल के नेताओं व संयुक्त-राज्य अमेरिका का बहुमत है। इस वर्ग की धारणा है कि संसार के समस्त देशों में लोक-तन्त्रीय सरकारें हों। सभी राष्ट्रों के अधिकारों का सम्मान किया जाय। लीग को सभी देशों द्वारा स्थली, सागरी व हवाई सभी प्रकार की शक्ति प्रदान की जाय ताकि वह उसके नियमों का उल्लंघन करनेवाले राष्ट्र को वैसा न करने के लिये बाध्य कर सके। यद्यपि आज भी ग्रेट ब्रिटेन में इस वर्ग के व्यक्तियों की संख्या पर्याप्त है तो भी इस वर्ग मि० ईडेन के त्याग पत्र के बाद ब्रिटिश-सरकार में इस वर्ग का कोई भी व्यक्ति न रहा, ब्रिटिश-सरकार में अन्तर्राष्ट्रवादियों का प्रतिनिधि न रहने से इस समुदाय की शक्ति नष्ट हो गई। अन्तर्राष्ट्रीय-संघ की रहीसही शक्ति का स्वातन्त्र्य हो गया। इटली के अवीसीनिया-आक्रमण ने यदि उसके कफ़न में अन्तिम टाँका लगाया था, तो जर्मन के आष्ट्रिया - हङ्गरी, जापान के आततायी चीन आक्रमण, फ्रैंको के विद्रोह इत्यादि ने उसको मरघट पहुँचा दिया, और अभी गत अक्टूबर में ब्रिटेन के प्रधान मंत्री मि० चैम्बरलैन ने लोक-तन्त्री युगोस्लेविकिया को फासिस्ट जर्मन को अर्पण करके उसे गहरी कवर में दफ़ना दिया है। इस अहम मसले पर संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका का चुप रहना, क्रान्तिकारी

फ्रान्स का ब्रिटेन के हाथ की कठपुतली बन जाना और स्वयं ब्रिटेन का फासिस्ट देशों के सामने घुटने टेक देना इस बात की पूर्ण रूप से पुष्टि करते हैं कि अब इस वर्ग के अन्तर्राष्ट्रवादियों की शक्ति नहीं के बराबर रह गई है। अब उनके दुमुहे सिद्धान्तों द्वारा न तो लोक-तंत्र की रक्षा हो सकती है और न लड़ाई ही बच सकती है अतः हम कह सकते हैं कि यह वर्ग अपने ध्येय में पूर्ण रूप से असफल है। लीग का अब क़द से निकल सकना असंभव है।

अन्तर्राष्ट्रवादियों का दूसरा समुदाय मार्क्सवादियों का है। इस वर्ग के प्रवर्तक सभी देशों में पाए जाते हैं। इसके अन्तर्गत सेकेण्ड इन्टरनेशनल के माननेवाले, ब्रिटेन की इन्डिपेन्डेंट लेबर पार्टी के अधिकांश सदस्य, भारत की कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी तथा अन्य देशों के प्रमुख सोशलिस्ट मानते हैं। इस वर्ग के अन्तर्राष्ट्रवादियों का काफ़ी जोर है। ये लोग सदा पद-दलित देशों के साथ हैं। साम्राज्यवाद व पूँजीवाद के विरोधी होने के कारण यह प्रत्येक राष्ट्र को समान दृष्टि से देखते हैं। यद्यपि इस वर्ग के प्रवर्तक सभी देशों में पाए जाते हैं, तो भी रूस के सिवा अन्य किसी देश की सरकार इनके पीछे नहीं है। इनके विश्व वन्धुत्व में किसी को संदेह नहीं हो सकता है, किन्तु इनकी चाही हुई सामाजिक स्थिति उत्पन्न करने के लिये प्रत्येक देश में श्रेणी-युद्ध आवश्यक है। पूँजीवाद का विनाश आवश्यक है। यदि विश्व से पूँजीवाद उठ जाय तो मार्क्सियन अन्तर्राष्ट्रीयता शीघ्र ही स्थापित हो जाय। क्या पूँजीवाद का विनाश सम्भव

है ? समाजवादियों का उत्तर है 'हाँ, अवश्य, वह तो अनिवार्य है।' किन्तु दूसरों को संदेह है।

अन्तर्राष्ट्रवादियों का तीसरा समुदाय गान्धीवादियों का है। यह वर्ग सबसे नवीन है। इसकी संख्या भी सम्भवतः सबसे कम है। भारत को छोड़कर इसके प्रवर्तक भी अन्य देशों में बहुत कम हैं। स्वयं भारत में सच्चे गान्धियन अन्तर्राष्ट्रवादी इने गिने हैं। इस वर्ग की अन्तर्राष्ट्रीयता का आधार प्रेम है। मार्क्सवादियों में और इनमें सबसे बड़ा अन्तर यही है कि एक का आधार कलह और दूसरे का प्रेम है। एक खूनी क्रान्ति द्वारा पूँजीवाद का विनाश करके विश्व में समाजवाद स्थापित करेगा और धीरे धीरे राष्ट्रीय सीमाओं को तोड़कर विश्व को एक विशाल राज्य में परिणित कर देगा, दूसरा पूँजीवाद को कलह द्वारा भंग न करके पूँजीपतियों के श्रमिक वर्ग से प्रेम करना सिखाकर आचरण की उच्चता में भेद भवना का विनाश करके प्रेम के राज्य स्थापित करेगा। दोनों में कौन सफल होगा, यह भविष्य के गर्भ में है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्वन्धों द्वारा जिन ध्येयों को पूरा करना चाहा जाता है उनमें मुख्य दो हैं। एक तो भावी लड़ाइयों का बचाना और दूसरे सबलों द्वारा निर्बलों को सताया जाना रोकना। दोनों उद्देश्यों को एक ही दिशा को जाने वाला समझना भ्रमात्मक है, क्योंकि विश्व-शांति का एक सबसे सल तरीका यह भी हो सकता है कि दुनियाँ के कुछ शक्तिशाली राज्य या राष्ट्र शेष का शोषण करने के लिये व उन पर अत्याचार करने के लिये एक नियम बना

लें। अभी अक्टूबर सन् १९३८ में जो शान्ति मि० चैम्बरलन ने पुगोस्लेवेकिया का भाग्य नाजी जर्मनी का सौँय कर प्राप्त की वह इसी प्रकार की शान्ति है। किन्तु यह तरीका एक स्वतंत्रता का प्रेमी कदापि पसन्द नहीं कर सकता। अतः अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन करते समय हमें दोनों ध्येय अपने सामने रखने चाहिये।

वर्तमान युद्धों का कारण, समाजवादियों के अनुसार, पूँजीवाद है और यदि पूँजीप्रथा भंग कर दी जाय तो विश्व लड़ाइयों के खतरे से सदा के लिये बचाया जा सकता है। यह धारणा लगभग अक्षरशः सत्य है विश्व के वर्तमान बढ़ते हुये असन्तोष का कारण दूषित बटवारा है। पूँजीवाद जिन तरीकों से युद्ध को प्रोत्साहन देता है उनको हम मुख्य तीन भागों में बाँट सकते हैं। पहले तो पूँजीपति अपनी सम्पत्ति को लगाने के लिये योग्य क्षेत्र की तलाश में रहते हैं। आज इंग्लैन्ड जापान फ्रान्स अमरीका इत्यादि की सरकारें चन्द पूँजीपतियों के हाथों की कटपुतली होने के कारण उनकी पूँजी लगाने के लिये क्षेत्र पाने, कच्चा माल मनमाने तरीके से ले सकने, पक्का माल खपाने के लिये बाजारों की तलाश में उपनिवेशों के पीछे साम्राज्यवादी नीति का अनुगमन कर रही है। इस कार्य की सफलता के लिये सेना बढ़ाई जाती है और प्रत्येक राष्ट्र दूसरे के भय से सदा लड़ने के लिये तैयार खड़ा रहता है। दूसरे पूँजीवाद का अधिकार प्रेस पर है और इसके द्वारा वह लड़ाई को प्रोत्साहन दिया करता है। किसी न किसी तरह से अखबारों पर रुपये वाले का प्रभाव रहता है और वह प्रत्येक समाचार को पूँजीपतियों के हित में परि-

वर्तित करके युद्ध को उकसाया करते हैं। तीसरे पूँजीपति सदा चाप-लूसों द्वारा धिरे रहने के कारण हुकूमत पसंद हो जाते हैं। जो आदमी सदा अपनी आज्ञाओं व इच्छाओं की पूर्ति कराने का आदी हो जाता है, वह अपना विरोध सहन नहीं कर सकता है। वह विरोधी पर आगवबूला होकर उसे पीस डालने के लिये छुटपटा उठता है। इस प्रकार पूँजीवाद ही वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय-अशान्ति का कारण है और यदि पूँजी प्रथा तोड़ दी जाय तो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापित की जा सकती है।

कार्लमार्क्स ने इस प्रकार विश्व-शान्ति स्थापित करने की आशा इस आधार पर की थी कि सारे संसार में एक साथ श्रमिक क्रान्ति कराई जा सकेगी, किन्तु अब समाजवादियों को वह आशा नहीं है। कम्युनिष्ट मेनीफेस्टो के अन्तिम शब्दों पर ध्यान दो:—

Let the ruling classes tremble at a communist revolution. The proletarians have nothing to lose but chains. They have a world to win. Working men of all countries unite.

शासक वर्ग को सामाजिक क्रान्ति से काँपने दो। श्रमिकों के पास हारने को कुछ है ही नहीं—केवल बेड़ियाँ हैं। जीतने के लिये उनके सामने सारा संसार है विश्व के मज़दूर एक हो जाओ।

किन्तु यदि संसार में एक बार समाजवाद हो जाय तो क्या लड़ाई का खतरा नहीं रहेगा? मान लो आज जर्मनी, जापान, अस्ट्रेलिया सब समाजवादी हो जायें तो क्या उनमें राष्ट्रीय भावना नहीं रहेगी?

आज अस्ट्रेलिया में चीनियों, जापानियों को बसने नहीं दिया जाता है, क्या तब सफ़ेद जातियाँ पीली जातियों के प्रति घृणा करना भूल सकेंगी ? क्या घृणा में पले श्रमिक अपनी सत्ता स्थापित हो जाने पर घृणा करने के लिये आपस ही में वर्ग व व्यक्ति नहीं ढूँढ़ लेंगे ? इस प्रकार के बहुत से सवाल भी उठाये जा सकते हैं जिनके द्वारा विप्लव में समाजवाद हो जाने पर भी लड़ाई का खतरा रह सकता है ।

लड़ाई का मुख्य कारण पूँजीवाद तो है ही, इसके कुछ और कारण भी हैं । वह हैं घृणा, प्रतियोगिता की भावना, राष्ट्र भावना, जातित्व और शक्ति से प्रेम । जब तक कि यह बातें जगत में रहेंगी, तब तक लड़ाई का खतरा भी रहेगा । यदि पूँजीवाद हो चाहे समाजवाद आवश्यकता है प्रेम की । यदि दुनियाँ से मशीन का युग हट जाय और घरेलू उद्योग धन्धों की वृद्धि हो और यदि लोगों के आचरण इस उच्चता तक उठाये जा सकें कि वह एक दूसरे से घृणा करना छोड़ कर प्रेम करना सीखें, तो लड़ाई की सम्भावना बचाई जा सकती है । अतः यह कहना बहुत पक्षपात पूर्ण न होगा कि आज विश्व को महायुद्ध के खतरे से यदि कोई सिद्धान्त बचा सकता है, तो वह गाँधीवाद है ।

---

# स्वतन्त्रता, समानता और अधिकार

( Liberty, equality & Rights )

ससार में सभी देश, सभी व्यक्ति एवं सभी प्राणी स्वतन्त्रता से प्रेम करते हैं। पराधीन देश स्वतन्त्र होने के लिए सहस्रों नर-मेध यज्ञ करते हैं, व्यक्ति स्वतन्त्रता के लिए सभी प्रकार की यातनाएँ सहते हुए देखे गए हैं; कहां तक कहें स्वतन्त्रता के लिए पशु-पक्षी भी लालायित रहते

। भारतवर्ष में तो लोगो ने बहुत समय में “पराधीनता दुःख महा सुख जग में स्वाधीन, सुखी रहत शुक वन विमे कनक पीजरे दीन” और “पराधीन सपनेहु सुख नाहीं” इत्यादि रहीम व तुलसीदास के दोहे स्मरण कर रखे हैं। स्वतन्त्रता एक पवित्र शब्द है; इससे व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास होता है इसके नाम से प्रत्येक व्यक्ति प्रभावित होता है। यद्यपि इसका प्रभाव सार्वभौमिक होता तो भी इसके वास्तविक अर्थ को इने-गिने प्राणी ही समझते हैं। इसके है वैज्ञानिक अर्थ का अन्वेषण करना राजनीति के विद्यार्थी का काम है।

वास्तव में जनसाधारण स्वतन्त्रता का अर्थ स्वेच्छाचारिता समझते हैं। स्वतन्त्रता के इस अर्थ के अन्तर्गत किसी प्रकार के बंधन न होने का भाव निहित रहता है। इस प्रकार की स्वतन्त्रता को हम प्राकृतिक स्वतन्त्रता कह सकते हैं किन्तु सरकार के सभी कार्यों में बन्धन की भावना रहती है अतः राज्यव्यवस्था के अन्तर्गत इस प्रकार की

स्वतन्त्रता कैसे पाई जा सकती है ? सरकार शब्द ही में शक्ति की भावना अन्तर्हित है और उसके बहुत से कार्यों में जनता को कार्य विशेष के लिए बाध्य करने का भाव रहता है । किन्तु प्रश्न यह है कि यदि राज्य नष्ट हो जायें और अराजकता का ज़माना आ जाय तो भी क्या प्राकृतिक स्वतन्त्रता, जिसमें व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार कार्य करने को मिल सके, का पाया जाना संभव एवं वांछनीय है ? ध्यान पूर्वक सोचा जाय तो विदित होगा कि अराजकता के काल में भी व्यक्ति को स्वेच्छाचारिता की स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त हो सकती है, क्योंकि राज्य रूपी नियन्त्रण रखने वाली विशाल शक्ति की अनुपस्थिति में बलवान् निर्बलों को दबा लेंगे और इस प्रकार निर्बल व्यक्तियों को अपनी इच्छाएं दबाकर बलवानों की इच्छानुसार कार्य करना पड़ेगा । सबलों की ही इच्छा का बोलबाला होगा । अतः यह स्पष्ट है कि जन साधारण को अराजकता के काल में भी अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त हो सकेगा, इस प्रकार की स्वतन्त्रता केवल एक ही व्यक्ति को प्राप्त होगी और वह व्यक्ति होगा सबसे शक्तिशाली व्यक्ति । अतः प्राकृतिक स्वतन्त्रता की धारणा एक असम्भव वस्तु है ; स्वतन्त्रता के नाम पर स्वेच्छाचारिता प्राप्त करने की आशा करना आकाश में फूल लगाना है । साथ ही साथ इस प्राकृतिक स्वतन्त्रता का भाव यह है कि हम पर बन्धन न हों, हमें कोई आशा न दे सके, हम को किसी कार्य के लिए बाध्य न किया जाय चाहे वह कार्य हमारे हितकर ही क्यों न हो । इस प्रकार का अर्थ रखने वाली स्वतन्त्रता को नकारात्मक कसना चाहिए । इन वाक्यों में स्वतन्त्रता के पक्व पदों के पीछे भीरुता

कर्त्तव्यहीनता एवं अकर्मरायता का भाव छिपा है। अतः यह प्राकृतिक स्वतन्त्रता की असम्भव धारणा नकारात्मक होने के कारण वाञ्छनीय भी नहीं है।

**नागरिक स्वतन्त्रता:**—हमने देख लिया है कि प्राकृतिक स्वतन्त्रता एक असम्भव धारणा है, सम्भव केवल यह है कि “प्रत्येक व्यक्ति को जो कुछ वह चाहे करने दो किन्तु शर्त यह रहे कि उसका वह कार्य अन्य व्यक्तियों की समान स्वतन्त्रता में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न कर रहा हो”। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण जन समाज को अधिक से अधिक परिमाण में स्वतन्त्रता देने के लिए यह अत्यन्ता-वाश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्राकृतिक स्वतन्त्रता का कुछ अंश दे केवल वही है जो हमारे पड़ोसी की समान स्वतन्त्रता से टकराता हो। इस प्रकार के पारस्परिक निर्णय की नींव पर ही नागरिक स्वतन्त्रता का प्रासाद खड़ा किया जा सकता है और इसकी रक्षा करना सर्वशक्तिमान संस्था (राज्य) का कर्त्तव्य है। सरकार उसी व्यक्ति को सजा देती है जो सर्व साधारण की समान स्वतन्त्रता के मुनहरे नियमों को भंग करता है। अतः हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि स्वतन्त्रता तथा राज्य सहयोगी हैं और स्वतन्त्रता को वास्तविक रूप देने के लिए सर्व शक्तिशाली सरकार (Sovereign state) का होना अत्यन्तावश्यक है। स्वतन्त्रता एवं अराजकता एक दूसरे के विपरीत वस्तुएं हैं अतः इनको एक साथ सम्बन्धित करने का विचार समझदारी का नहीं कहा जा सकता है। प्राकृतिक स्वतन्त्रता की धारणा वैज्ञानिक न होने के कारण माननीय नहीं है, अतः हमें स्वतन्त्रता से उस नागरिक स्वतन्त्रता का

ही अभिप्राय समझना चाहिए जिसका अर्थ है राज्य के नियमों द्वारा निर्धारित स्वतन्त्रता ।

‘राज्य के नियमों द्वारा निर्धारित स्वतन्त्रता’ का यही अभिप्राय नहीं हो सकता है कि जो कुछ एक सरकार विशेष अपनी जनता को करने की इजाजत दे वही वहाँ की जनता की अन्तिम नागरिक स्वतन्त्रता है । क्या रूस की ज़ारशाही में भी जनता को पूर्ण नागरिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी ? फिर क्या भारत के देशी राज्यों में और कुछ अंश तक ब्रिटिश भारत में भी जनता को पूर्ण नागरिक स्वतन्त्रता प्राप्त है ? नागरिक स्वतन्त्रता को निर्धारित करने वाली रेखा का सम्बन्ध किसी सरकार विशेष के वास्तविक नियमों से नहीं है । किसी सरकार में जनता अधिक स्वतंत्र होती है, किसी में कम । आवश्यकता से अधिक स्वतन्त्रता में नियंत्रण का अभाव और अशांति फैल जाती है तथा वह जनता को अराजकता की ओर ले जाती है ; आवश्यकता से कम स्वतन्त्रता में व्यक्ति का विकास मारा जाता है । अतः नागरिक स्वतन्त्रता से अभिप्राय यह है कि सर्वसाधारण की समान स्वतन्त्रता का ध्यान रखते हुए जनता को जितनी स्वतन्त्रता दी जा सकती हो, उतनी प्रत्येक सरकार को देनी चाहिए । पूर्ण नागरिक स्वतन्त्रता का उपभोग करना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है और उसका अपहरण होते देख सरकार के विरुद्ध आवाज़ उठा सकना उसका अधिकार है ।

नागरिक स्वतन्त्रता की रक्षा के विचार से तथा इस ध्येय से कि वर्तमान सरकार जनता की स्वतन्त्रता का अपहरण न कर सके, हम देखते हैं कि प्रायः सरकार की शक्ति तो विधान ( Consti-

tution ) द्वारा या रूढ़ियों ( Convention ) द्वारा निर्मित कर दी जाती है ।

नागरिक स्वतंत्रता की उक्त भावना के अन्दर राजनीतिक, धार्मिक इत्यादि सभी प्रकार की स्वतंत्रता का भाव निहित रहता है किन्तु कभी-कभी “नागरिक स्वतंत्रता” यह शब्द एक संकीर्ण अर्थ में भी प्रयोग किया जाता है ।

### स्वतंत्रता के भेद

( १ ) नागरिक स्वतंत्रता:—अपने संकीर्ण अर्थ में भी यह शब्द दासता का विलोम है अतः इसका अर्थ व्यक्ति व वस्तु की स्वतंत्रता से है ।

( २ ) राजनैतिक स्वतंत्रता:—इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक नागरिक को राज्य में भाग लेने का अधिकार हो । राष्ट्र की सरकार में उसकी भी पहुँच हो । अर्थात् देश में लोक—तंत्री राज्य हो और प्रत्येक नागरिक को कम से कम वोट देने का अधिकार हो । देश के कानून नागरिकों की सामुहिक इच्छा का प्रतिबिम्ब हों न कि किसी एक व्यक्ति की स्वेच्छाचारिता का परिणाम ।

( ३ ) धार्मिक स्वतंत्रता:—प्रत्येक नागरिक को धार्मिक धारणाओं एवं पूजा के ढंग में पूर्ण स्वतंत्रता हो । अर्थात् प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार हो कि वह मन चाहा धर्म स्वीकार कर सके और उसके नियमों का स्वतंत्रतापूर्वक पालन कर सके और साथ ही साथ किसी धर्म विशेष को स्वीकार करने के कारण उसका किसी प्रकार का राजनैतिक, नागरिक एवं आर्थिक अधिकार न छीना जाय ।

( ४ ) **व्यक्तिगत स्वतंत्रता:**—सार्वजनिक जीवन पर प्रभाव न डालने वाले कार्यों में प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए । अर्थात् उसे व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्ध रखने वाले कार्यों में जैसे भोजन करना, कपड़ा पहिनना इत्यादि में अपनी इच्छानुसार चलने का अधिकार हो ।

( ५ ) **राष्ट्रीय स्वतंत्रता:**—प्रत्येक राष्ट्र को स्वतंत्रता मिलनी चाहिए क्योंकि स्वतंत्र हो कर ही वह अपनी संस्कृति व अपने प्राचीन गौरव को रक्षा कर सकता है और अपना भविष्य व वर्तमान सुधार सकता है ।

और भी अनेक प्रकार की नागरिक स्वतंत्रताएँ जैसे बोलने की स्वतंत्रता, छापने की स्वतंत्रता, सभा इत्यादि की स्वतंत्रता, जिनको उचित अंश में प्रदान करना प्रत्येक सरकार का कर्तव्य और उचित अंश में प्राप्त करना प्रत्येक नागरिक का अधिकार है ।

अब हमको यह देखना चाहिए कि क्या स्वतंत्रता केवल एक नकारात्मक धारणा है या इसका कोई सकारात्मक पहलू भी है ? क्या स्वतंत्रता का केवल यही अभिप्राय है कि हमारे ऊपर से बन्धन हटा लिए जायें या कुछ और भी ? वास्तव में स्वतंत्रता नकारात्मक वस्तु नहीं है । इसका अभिप्राय सरकार के बन्धनों का हटाया जाना नहीं बरन् जनता को विकास के अवसर प्रदान करना है । उन्नति के अवसर प्रदान करना स्वतंत्रता का सकारात्मक पहलू है । इसी धारणा के प्रकाश में हमें सरकार, अनिवार्य शिक्षा प्रचलित करने, जनता को स्वास्थ्यप्रद सुविधाएं प्रदान करने, श्रमजीवियों की रक्षा करने के कामों में जनता की स्वतंत्रता का अपहरण करती हुई नहीं दिखाई देती है ।

वर्तमान राज्यों में स्वतंत्रता की क्या स्थिति है ? इस प्रश्न का उत्तर हमारे स्वतंत्रता के दृष्टि कोण पर निर्भर है । जो लोग स्वतंत्रता का अर्थ किसी प्रकार के बन्धनों का न होना समझते हैं, उन्हें वर्तमान राज्यों में दिन प्रति दिन स्वतंत्रता का अपहरण होता दिखाई देता होगा क्योंकि आजकल सभी सरकारें अपना कार्य क्षेत्र बढ़ाती चली जा रही हैं । किन्तु जिन लोगों को स्वतंत्रता से अभिप्राय विकास के अवसर प्रदान करना दिखाई देता है उनकी समझ में वर्तमान राज्यों में नागरिक स्वतंत्रता दिन प्रति दिन बढ़ती जाती है क्योंकि सभी सरकारें अपना कार्य क्षेत्र इसी ध्येय को सामने रख कर बढ़ा रही हैं ।

“हम स्वाधीनता क्यों चाहते हैं ? हमारी प्रबल इच्छा है कि हमारी आत्मा उन्नत हो । इसीलिए हम स्वाधीनता का दावा करते हैं संसारिक उन्नति हमारे लिए प्रधान विषय नहीं है । जीवन सग्राम के लिए परमात्मा ने मनुष्य को आत्मिक एवं शरीरिक शक्तियाँ दे रखी हैं । यह बात मनुष्य तथा समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक है कि इन शक्तियों का विकास करने और योग्यतापूर्वक अपना कर्तव्य निवाहने के लिए इन से पूरा काम लिया जाय । स्वाधीन राष्ट्र में प्रत्येक मनुष्य एवं समाज को पूरी उन्नति करने के लिए सरल परिस्थिति मिल जाती है । पराधीन राष्ट्र में ठीक इसका उलटा होता है । जब एक देश दूसरे देश को अपने आधीन रखता है तब दास देश का साम्प्रतिक एवं नैतिक नाश होता है और लूट खसोट का शिकार बनने के कारण उसकी सम्पत्ति घटती है । विजयी जाति अपनी-अपनी प्रभुता के जमाने

के लिए जिन-जिन दूषित आचरणों का व्यवहार करती है, उनसे विजित जाति का नैतिक पतन होता है। इस नैतिक नाश से राष्ट्र को बचाने के लिए गुलामी से लड़ना पड़ता है। दास देश में दोष फलते न फूलते हैं। जो आदमी यह बात भली भाँति हृदयङ्गम कर लेता है उसके लिए दामता के विरुद्ध लड़ने के सिवाय और कोई चारा ही नहीं रहता है। दासता के साथ हम सन्धि नहीं कर सकते। राज्य में शासन कर्त्ताओं का कर्त्तव्य होता है कि वह प्रजा के उत्तम से उत्तम गुणों का उत्कर्ष करें; किन्तु विदेशी शासन घृणित से घृणित दोषों को बढ़ाने में सहायता करता है। देश के वर्त्तमान इतिहास में इसके उदाहरणों की भरमार है। साम्राज्यवादी शासक अपनी जड़ मजबूत करनेवालों पर उपाधियों व रिश्तायतों की बौछार करते हैं कृपा उन पर की जाती है जो राष्ट्रीय हित का घात करते हैं। जर सोचिए तो सही? जिन लोगों का सम्मान किया जाना चाहिए वे ऐसे लोगों की तुलना में कुछ भी नहीं समझे जाते हैं जो निन्द के पात्र हैं!.....जब बुरा काम करने के लिए चारों तरफ से प्रलोभन मिलने लगता है तब मनुष्य में स्वतः नीच भाव उत्पन्न होने लगते हैं। आज देश का सौभाग्य है कि हम में अधिकांश इस बुरे प्रभाव के बस नहीं होते, किन्तु हमारा विश्वास अपने ऊँचे आदर्श से हट जाता है। हम आदर्शों की अवहेलना करने लगते हैं। हमारे भीतर सद्बृत्तियाँ रहती हैं किन्तु हम उन्हें विकसित नहीं होने देते। प्रत्येक मनुष्य का हृदय महान और सुन्दर आदर्श के लिए उत्सुक रहना चाहिए, किन्तु जो भूमि सर्वत्र जकड़ी हुई है और बरबाद

हो गई है वहाँ इस बात की आशा करना निराशा के गढ़े में गिरना है। स्वतंत्रता के दावे का गूढ़ अर्थ यह है कि बल प्रयोग से कोई हमारी आत्मा का हनन नहीं कर सकता है।”

## समानता ( Equality )

समानता भी एक प्यारा शब्द है और जनसाधारण इससे अत्यन्त प्रभावित होते हैं किन्तु स्वतंत्रता की तरह इसके अर्थ में भी लोगों में बड़ा मतभेद है ।

( १ ) प्राकृतिक समानता:—प्राकृतिक समानता का तात्पर्य यह है कि मनुष्यों में पाए जानेवाले अन्तर केवल उत्पत्ति, पालन व देश का प्रभाव है, किन्तु वास्तव में मानव प्रकृति सदा एक सी रहती है । दूसरे शब्दों में, मनुष्यों में समानता की इतनी अधिकता है कि हम अन्तर की उपेक्षा करते हुए कहते हैं “आदमी-आदमी सब बराबर ।” कुछ भी हो, हम मनुष्यों में वह न्याय-शक्ति कहाँ जिससे मनुष्य-मनुष्य के मूल्य का अन्तर निकाल सकें, इसलिये हमारे लिए सबसे सुलभ एवं रचनात्मक उपाय यही है कि हम सभी मनुष्यों को बराबर समझें । राजनीतिक निर्वाचनों में प्रत्येक व्यक्ति के वोट का समान मूल्य समझा जाना इसी धारणा का परिणाम है । ईश्वर ने जल, थल एवं वनस्पति इत्यादि प्राकृतिक वस्तुएँ मनुष्य के समान उपभोग के लिए बनाई हैं । अतः प्राकृतिक समानता का यह भी दावा है कि व्यक्ति को उक्त वस्तुओं का उपभोग करने का समान अधिकार होना चाहिए ।

( २ ) राजनैतिक समानता:—राजनैतिक समानता के अनुसार

राष्ट्र की सरकार में सभी नागरिकों को समान भाग लेने का अधिकार हो। सभी सभापति नहीं हो सकते और न सभी धारा सभा के सदस्य। राजनैतिक समानता के अनुसार वह सरकार में समान भाग ले सकते हैं। किन्तु उनका भाग उनकी योग्यता पर ही निर्भर रहेगा। साधारण व्यक्ति की राजनैतिक समानता उनके वोट के समान मूल्य ही तक सीमित रहती है।

( ३ ) सामाजिक समानता:—समाज की दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति बराबर होना चाहिए। जाति व वर्ग का भेद व्यक्ति के विकास में बाधा न डालता हो। जन्म से कोई ब्राह्मण और अछूत समझा जाना सामाजिक समानता के सिद्धान्त के विरुद्ध है। समाज की वह रूढ़ियाँ माननीय नहीं हैं जो किसी व्यक्ति को ऊँचा और किसी को नीचा बनाती हों।

( ४ ) नागरिक समानता:—नागरिक समानता के अनुसार कानून के सामने प्रत्येक व्यक्ति बराबर समझा जाना चाहिए। देश के अन्दर किसी जाति या वर्ग विशेष को अधिक कानूनी अधिकार देना या उसके लिए विशेष अदालतें स्थापित करना नागरिक समानता के सिद्धान्त के विरुद्ध है।

( ५ ) आर्थिक समानता:—जनसाधारण समानता शब्द को प्रायः आर्थिक भाव में ही प्रयोग करते हैं। आर्थिक समानता के कई अभिप्राय हैं। कुछ लोगों का कहना है कि संसार में पाई जानेवाली सम्पूर्ण सामग्री में सबका भाग समान होना चाहिए और कुछ व्यक्तियों के अनुसार आर्थिक समानता का अर्थ है सबको समान आर्थिक अवसर प्रदान करना।

## स्वतंत्रता एवं समानता

प्रायः लोग समझते हैं कि स्वतंत्रता एवं समानता एक दूसरे के पूरक हैं और इसीलिए साथ-साथ जाने चाहिए। फ्रान्सीसी क्रांति का यह नारा “स्वतन्त्रता, समानता, बन्धुत्व या मौत” उक्त कथन की सत्यता प्रदर्शित करता है। किन्तु वास्तव में पूर्ण स्वतन्त्रता और पूर्ण समानता एक दूसरे के विपरीत वस्तुएँ हैं, अतः दोनों वस्तुएँ एक साथ नहीं पाई जा सकती हैं। प्राकृतिक समानता के पक्ष में चाहे जो कुछ कहा जाय, हम वास्तव में प्रकृति में पूर्ण समानता कहीं भी नहीं पाते हैं। हम को यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि मनुष्य में स्वभाव से ही शारीरिक, मानसिक एवं अध्यात्मिक शक्तियों में असमानता रहती है। हम इस बात को भी तरह नहीं दे सकते हैं, कि साधारण मनुष्यों में अपने आप मोचने का कष्ट वचाने की इच्छा से शक्तिशाली एवं प्रतिभाशाली नेता की आज्ञाओं के अनुसार चलने की स्वाभाविक वान होती है। इसके सिवाय यदि जनता को अपने भाग्य निर्माण की पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाती है तो थोड़े ही अवसर में सामाजिक एवं आर्थिक असमानता पैदा हो जाती है। किसी लेखक का कहना है कि यदि साल की पहली तारीख को संसार का सारा सामान इकट्ठा करके लोगों में समान रूप से विभाजित कर दिया जाय और फिर सबको अपने-अपने भाग्य निर्माण की समान स्वतंत्रता दे दी जाय, तो साल के अन्त में देखने से विदित होगा कि किसी-किसी का भाग्य बढ़कर दो गुना व चार गुना तक हो गया है और किसी

। अपना भाग साफ़ करके दूसरों से कर्ज लेना, उधार लेना अथवा भेदा माँगना प्रारम्भ कर दिया है। एक बार संसार के सभी व्यक्तियों को समान करके भी पूर्ण स्वतंत्रता दे देने पर असमानता अवश्य ही उत्पन्न हो जायेगी। ऐसी असमानता को प्राकृतिक असमानता कहना चाहिए। अतः यदि कोई राज्य ऐसी प्राकृतिक असमानता के उपस्थित रहते हुए पूर्ण समानता की नीति को काम में लाना चाहता तो उसे प्रति दिन समान बटवारा करने के लिये अप्रसरों की बड़ी तैयारी रखना पड़ेगी। इस प्रकार एक अप्राकृतिक समानता स्थापित की जा सकेगी किन्तु इस समानता के मूल्य में हमें अपनी स्वतंत्रता खोनी होगी। अतः यह स्पष्ट है, जनता को स्वतंत्र कर देने से उनमें असमानता अवश्य उत्पन्न हो जायेगी और उनमें समानता स्थापित करने के लिए उनकी स्वतंत्रता का अपहरण अवश्य करना होगा। इससे सिद्ध होता है कि स्वतंत्रता व समानता सहयोगी शब्द नहीं हैं और न वे साथ साथ जा सकते हैं। वे तो एक दूसरे के विरोधी हैं।

उपरोक्त कथन का तात्पर्य केवल यही है कि पूर्ण स्वतंत्रता तथा पूर्ण समानता का साथ नहीं हो सकता है; इसका अभिप्राय यह नहीं समझना चाहिए कि इन दोनों में किसी प्रकार का भी सम्बन्ध सम्भव नहीं है। लास्की ऐसे विद्वानों का कहना है कि वास्तविक स्वतंत्रता का आधार समुचित समानता ही हो सकती है। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि स्वतंत्रता को वास्तविक रूप तभी दिया जा सकता है, जब देश से बड़ी-बड़ी आर्थिक असमानताएँ हटा दी जायेगी, क्योंकि उन्नति करने, जीवित रहने, संस्कृति की रक्षा एवं

जीवन की सफलता प्राप्त करने के अवसर जनता को तभी प्राप्त हो सकते हैं। इस प्रकार की समानता संभव भी है और वांछनीय भी, और साथ ही साथ बलिक सच्ची स्वतन्त्रता की सहयोगिनी भी होगी क्योंकि स्वतंत्रता का सकारात्मक अर्थ है उन्नति के अवसर प्रदान करना। किन्तु इसको हम पूर्ण समानता नहीं कह सकते हैं। यह तो केवल उस अनावश्यक असमानता का, जो समाज में शाशक वर्ग की स्वार्थ परायणता से उत्पन्न हो जाती है, हट जाना ही होगा। जब तक समाज के विभिन्न वर्गों में आर्थिक असमानता की अथाह खाड़ी मौजूद रहती है, तब तक निम्न श्रेणी के कम्बख्त उन्नति के उन अवसरों का उपभोग नहीं कर सकते हैं जो देश की सरकार, सर्व साधारण के लिए समान रूप से समर्पित करती है। अतः दिए हुए विकास के अवसरों को सार्थक बनाने के पहिले सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह वर्ग विरोधिनी आवश्यक आर्थिक असमानता की गहरी खाड़ी पर भी एक ऐसा पुल बनवाने की चेष्टा करे कि यदि उसपर से धनिक वर्ग की मोटरें व श्रमिक वर्ग की बैलगाड़ियाँ साथ साथ न निकल सकें तो कम से कम कम्बख्त श्रमिक पैदल जाकर ही दूसरे वर्ग से हाथ मिला आया करें।

अरिस्टाटल (Aristotle) के कथनानुसार समानता संख्यक नहीं बरन् अनुपातिक होनी चाहिए। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को बदला उसके सामाजिक मूल्य के अनुसार मिलना चाहिए। समानता की अनुपातिक धारणा स्वतंत्रता तथा न्याय से संगत रखती है, और इसी प्रकार की समानता को वास्तविक रूप भी दिया जा सकता है। सांख्यिक समानता

का भाव अर्पता यह समझा जाना कि समाज के सभी व्यक्ति सभी प्रकार बराबर हैं, असम्भव, न्याहीन एवं स्वतंत्रता विरोधी हैं ।

## अधिकार ( Rights )

इस राजनैतिक धारणा पर विचार वादियों ने बहुत कुछ कहा है । प्रत्येक ने अपने-अपने ढंग से इसकी परिभाषा की है । अतः इस धारणा पर स्वयं कुछ कहने के पहले पाश्चात्य परिभाषाओं का भाव सामने रखना अनिवार्य सा प्रतीत होता है । हालैंड (Holland) के कथनानुसार “एक मनुष्य का अधिकार उसकी अन्य व्यक्तियों के कार्यों को प्रभावित करनेवाली शक्ति को कहते हैं—

प्रभावित अपनी शक्ति से ही नहीं बरन् समाज की सामुहिक शक्ति से किया जाता है ।” सेल्माण्ड (Salmond) का कहना है, “अधिकार एक प्रकार का हित है जिसकी प्रादुर्भूति एवं रक्षा अधिकार के नियम द्वारा होती है । ( अर्थात् जो कुछ होना चाहिए या प्राकृतिक अन्याय ) यह एक ऐसा हित है जिसका सम्मान करना हमारा कर्त्तव्य है और जिसकी ओर ध्यान न देना एक बड़ी गलती है ।” ग्रे ( Grey ) अपनी ‘प्रकृति एवं न्याय का द्वार ( Nature and source of law ) नामक पुस्तक में अधिकार को कर्त्तव्य का सहगामी बतलाते हैं । आप का कहना है कि “जब एक मनुष्य का दूसरे व्यक्ति के हित में किसी काम का करना कर्त्तव्य है तब दूसरे व्यक्ति का उस काम पर अधिकार हुआ ।” अर्थात् यदि सरकार का कर्त्तव्य है कि वह हमारी जान व माल की रक्षा करे तो

सरकार द्वारा जान व माल की रक्षा नामक कार्य पर हमारा अधिकार हुआ ।

**उक्त परिभाषाओं का विशेषण**—ऊपर दी हुई परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकार का अर्थ किसी प्रकार नहीं हो सकता है । किसी व्यक्ति का किसी पदार्थ या कार्य पर अधिकार उचित हैं या नहीं, इसका निर्णय इस बात से नहीं हो सकता है कि उसमें उसकी रक्षा करने की पर्याप्त शक्ति है या नहीं ; उसके उचित या अनुचित होने का निर्धारक तो समाज है । वास्तव में अधिकार की धारणा के अन्तर्गत दो बातें सदा निहित रहती हैं ।

( १ ) अधिकार मांगने वाले व्यक्ति का होना ।

( २ ) समाज द्वारा उस अधिकार का स्पष्ट या अस्पष्ट रूप में स्वीकृत किया जाना । अधिकार मांगने वाले के बिना अधिकार-स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती है । यदि सामने की मेज पर एक टोपी पड़ी है तो जब तक संसार में कोई यह कहने वाला नहीं है कि यह टोपी मेरी है तब तक उस टोपी पर किसका अधिकार कहा जा सकता है । अतः मांगने वाले के बगैर अधिकार की सृष्टि नहीं हो सकती है । किन्तु केवल मांगने वाले के होने पर ही अधिकार नहीं बन जायेगा । यह बात भी अत्यन्त आवश्यक है कि यह माँगना समाज द्वारा स्वीकृत हो । कल्पना कीजिए कि यदि आज कोई मुगल सम्राटों का वंशज यह कहने लगे कि अब भी हम भारत के सम्राट् हैं तो क्या वह दावा (Claim) अधिकार कहा जा सकता है ? केवल इस दावे के बल पर यह भारत पर शासन करने का अधिकारी नहीं मान लिया जायेगा । इसी प्रकार

केवल समाज-स्वीकृति भी अधिकार को जन्म नहीं दे सकती है। उदाहरणार्थ समाज यह मानता है कि पशुओं के साथ निर्दयता का व्यवहार करना बुरा है। किन्तु चूँकि पशु इस अधिकार का दावा (Claim) करने में कि हमारे साथ दया का व्यवहार किया जाय, असमर्थ हैं, इसलिए हम यह कभी नहीं कहते हैं कि पशुओं का दयापूर्ण अधिकार कराने का है। अतः यह स्पष्ट है कि वास्तविक अधिकार की प्रादुर्भूति के लिए दावागीर एवं समाज-स्वीकृति दोनों वस्तुओं का होना अत्यन्त आवश्यक एवं अनिवार्य है।

## प्राकृतिक तथा कानूनी अधिकार

( Natural and legal rights )

अधिकार के यह दो रूप प्रायः संसार के सभी सभ्य देशों में पाये जाते हैं। प्रत्येक देश में कुछ ऐसे अधिकार हैं जिनको समाज मानता है और यद्यपि उन्हें कोई कानूनी रूप नहीं दिया गया है तथापि वे शताब्दियों से चले आ रहे हैं। ऐसे अधिकारों को हम प्राकृतिक अधिकार कह सकते हैं। इसके विपरीत जिन अधिकारों को कानूनी रूप दिया जा चुका है, जिनकी रक्षा सरकार करती और जिनके भंग करने पर मनुष्य दण्ड का भागी होता है, उनको कानूनी अधिकार ( legal rights ) कहते हैं।

कुछ विद्वानों की धारणा है कि कानूनी अधिकार ही वास्तविक अधिकार कहे जा सकते हैं और प्राकृतिक अधिकार बलपूर्वक लागू नहीं किए जा सकते हैं; जन साधारण उनका इच्छानुसार उलंघन करते

और कर सकते हैं। अतः वे किसी काम के नहीं हैं। उनकी अव्यवस्थिता एवं अनिश्चिता उन्हें इस योग्य नहीं रखती है कि उन्हें अधिकार का नाम दिया जाय। अधिकार का एक ही द्वार है, उनकी प्रादुर्भूति सरकार के कानूनों द्वारा ही हो सकती है।

अधिकार की उक्त कानूनी धारणा को इने गिने लोग मानते हैं। इसको साधारण जनता किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं कर सकती है क्योंकि अधिकारों की रचना सरकार की स्वेच्छा द्वारा नहीं होती है वरन् वे तो प्राकृतिक न्याय की धारणा पर अवलम्बित रहते हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि एक अधिकार को हम अधिकार इसलिए मानते हैं कि उसे कानूनी रूप दिया जा चुका है वरन् कानूनी रूप इस लिए दिया जाता है कि वह एक अधिकार है। कानूनी रूप तो केवल उसकी रक्षा के लिए दिया जाता है। हमारी आध्यात्मिक भावना न्याय और कानून के अन्तर को सदा प्रदर्शित किया करती है। किसी सरकार के सभी कानून न्याय पूर्ण नहीं होते हैं, अतः हम यह कभी नहीं कह सकते हैं कि वह प्रत्येक दावा (Claim) जिसकी कानून रक्षा करता हो, एक वास्तविक अधिकार है। और न हम यही कह सकते हैं कि वह सभी बातें जिन्हें अधिकार के रूप में निर्धारित कर देना चाहिए, किसी देश की वर्तमान सरकार द्वारा निर्धारित कर दी गई हैं। प्राकृतिक दशा में पास जाने वाले अधिकारों को ही सरकारें कानूनी रूप दिया करती हैं। इस लिए यह कहना कि कानून द्वारा निश्चित अधिकारों के परे और कोई अधिकार नहीं हो है, यह कहने के बराबर होगा कि सरकार के कानून द्वारा खींची हुई

रेखा के घने न्याय या अन्याय नहीं हो सकता है। वेन्थम की कानूनी धारणा की आलोचना करते हुए एक प्रसिद्ध विद्वान कहता है कि यदि हम प्राकृतिक अधिकार से इनकार करते हैं तो हम प्राकृतिक कर्तव्य को भी नहीं मान सकते हैं और इस प्रकार सामने सरिता में डूबती हुई अबला को बचाना हमारा कर्तव्य नहीं रहेगा। किन्तु हमारी आत्मा हमें बतलाती है कि डूबते की रक्षा करना हमारा परम कर्तव्य है। इसी प्रकार कुछ ऐसे अधिकार हैं जिन्हें सरकारें कानूनी रूप नहीं दे सकी हैं किन्तु समाज की आत्मा उन्हें अपना परम अधिकार मानती हैं। अन्त में हम यह भी कह सकते हैं कि प्राकृतिक अधिकारों का उलंघन करना भी सरल नहीं है। यदि कानूनी अधिकार के पीछे सरकार की दण्डदायिनी शक्ति रहती है तो प्राकृतिक अधिकार के पीछे भी एक बड़ी शक्ति रहती है वह हैं समाज के कठोर नियम प्राकृतिक अधिकारों का उलंघन करने वाले व्यक्ति को लोग घृणा की दृष्टिसे देखते हैं और कभी-कभी सामाजिक रूढ़ियाँ उन्हें सरकार से भी कठोर दण्ड देती हैं।

### प्राकृतिक अधिकार

प्राकृतिक अधिकार वह अधिकार हैं जिनके अस्तित्व की कल्पना सरकार की रक्षा के परे की जा सकती है प्रश्न यह है कि इन अधिकारों की प्रादुर्भूति किम प्रकार होती है? और इनका आधार क्या है? इन प्रश्नों का उत्तर पश्चिमी विद्वानों ने अनेक प्रकार से दिया है और समाज के सामने कई धाराणाएँ रखी हैं। यहाँ पर स्थाना-

भाव के कारण केवल मुख्य मुख्य धारणाओं का ही विवेचन किया जा सकता है ।

( १ ) कुछ लोगों का कहना है कि मनुष्य को प्राकृतिक अधिकार इसलिये मिलने चाहिए कि वे सदा से मिलते आए हैं । इस धारणा के प्रवर्तकों का विश्वास है कि मानव समाज की राजनैतिक व सामाजिक दशा के पहले उसकी एक प्राकृतिक दशा थी । उस समय न लोगों को राज्य का ज्ञान था और न वे सामाजिक बन्धनों से बँधे थे । उस प्राकृतिक दशा में भी मनुष्य को जीवन, वस्तु-अधिकार एवं स्वतंत्रता के अधिकार प्राप्त थे । ये अधिकार समाज तथा राज्य की उत्पत्ति से पहिले के हैं । अतः इनका समाज एवं राज्य से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, इसीलिये राज्य के नियम न इन्हें नष्ट कर सकते हैं और न कम । इन अधिकारों को प्राकृतिक इसलिये कहना चाहिए क्योंकि यह मनुष्य कृत नहीं हैं । दूसरे शब्दों में इनकी प्रादुर्भूति मनुष्य के निश्चित कार्य द्वारा नहीं हुई है । यह तो प्रकृति का एक अंश है । हमारी इस प्राकृतिक मौरूसी को न कोई छीन सकता है और न घटा-बढ़ा सकता है ।

**उक्त धारणा की आलोचना**—यदि हम उक्त कथन को तर्क की कसौटी पर चढ़ाते हैं तो वह खरा नहीं उतरता है । इसकी आलोचना को हम निम्नलिखित भागों में विभाजित कर सकते हैं ।

( क ) यदि प्रारम्भिक काल में सामाजिक भावना ही नहीं थी तो अधिकार को स्वीकार करनेवाला कौन था ? स्वीकार करने वाले की अनुपस्थिति में अधिकार की उत्पत्ति नहीं हो सकती है । केवल

मांगने वाले व्यक्ति होंगे। अतः मनुष्य की सामाजिक दशा के पूर्व की प्राकृतिक दशा में (यदि कभी इस प्रकार की दशा थी) अधिकार नहीं पाए जाते होंगे।

(ख) प्रारंभिक अवस्था के असम्यक्त व्यक्तियों में इतनी बुद्धि नहीं हो सकती थी कि वे किसी अधिकार का दावा (Claim) करते। मांगने वाले या दावा करने वाले की अनुपस्थिति में भी अधिकार की सृष्टि नहीं हो सकती है।

(ग) यदि हम थोड़ी देर के लिए यह स्वीकार भी कर लें कि मानव जाति की प्राकृतिक अवस्था में भी कुछ अधिकार पाए जाते थे, इस बात का उत्तर तो भी कहीं नहीं मिलता है कि उनकी प्रादुर्भूति किस प्रकार हुई थी और उनका आधार क्या था।

(२) प्राकृतिक अधिकार की दूसरी धारणा का आधार मानव-प्रकृति है। कुछ विद्वानों का कहना है कि मानव-प्रकृति लगभग सदा एक सी रहती है। उसकी प्रकृति के आधार पर प्रारम्भ ही से कुछ अधिकार निर्धारित कर रखे गए हैं। उन्हीं अधिकारों को हम प्राकृतिक अधिकार कह सकते हैं, क्योंकि उनका आधार मानव-प्रकृति है।

यह धारणा मानव-प्रकृति को स्थायी समझने में गलती करती है। प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति में विभिन्नता रहती है, संसार परिवर्तनशील है। अतः मानव-प्रकृति भी सदा परिवर्तित एवं विकसित होती रहती है। मानव-प्रकृति के आधार पर अधिकारों की चिरस्थायी सूची नहीं तैयार की जा सकती है। उक्त धारणा की सबसे बड़ी

गलती यह है कि यह अधिकारों को एक निश्चित वस्तु समझती है, किन्तु वह, वास्तव में, परिवर्तित होते रहते हैं।

## प्राकृतिक अधिकार की तात्त्विक (Physical) धारणा

( ३ ) इस धारणा के अनुसार प्राकृतिक अधिकार वह वस्तु है जो हर समय व हर समाज में इस आधार पर पाए जाते हैं कि उनका होना मनुष्य के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए अत्यन्तावश्यक है। अतः प्राकृतिक अधिकार प्राकृतिक इसलिए नहीं हैं कि वे मानव-जाति की किसी कल्पित प्राकृतिक अवस्था में पाए जाते थे; बरन् इसलिए कि वे मनुष्य को उसकी प्रकृति का पूर्ण अनुभव करने के लिए आवश्यक वस्तु हैं। चूँकि यह अधिकार मनुष्य की अध्यात्मिक आवश्यकताओं से सम्बन्ध रखते हैं, अतः वे काल व देश के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं।

इन प्राकृतिक अधिकारों को समाज की आत्मा स्वीकार करती है, राज्य या कानून चाहे इन्हें स्वीकार न करें। वास्तविकता यह है कि किसी भी काल के कानूनी अधिकार जनता के प्राकृतिक अधिकारों का एक अंश ही प्रदर्शित करते हैं। प्राकृतिक अधिकारों की प्रकृति का वर्णन करते हुए ग्रीन साहब ( Green ) कितने अच्छे ढंग से बतलाते हैं कि वे एक तरफ कानून से सम्बन्धित रहते हैं और दूसरी तरफ आचरण से, तो भी वे दोनों से परे एक तीसरी वस्तु हैं। प्राकृतिक अधिकारों की यह तात्त्विक धारणा माननीय प्रतीत होती है।

प्राकृतिक अधिकार की उक्त धारणाओं में पर्याप्त मतभेद है किन्तु

तो भी वे इस बात में एकमत हैं कि कुछ अधिकार ऐसे भी हैं जिन्हें प्राकृतिक अधिकार कहना चाहिए, और जिनका सरकार या उसके नियमों से कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। उनका आधार तो न्याय की आन्तरिक भावना है।

### क्या राज्य के विरुद्ध भी कोई अधिकार हो सकते हैं ?

आस्टिन ( Austin ) बेन्थम ( Bentham ) हालेन्ड ( Holland ) इत्यादि कानूनी लेखकों के कथनानुसार कोई भी व्यक्ति राज्य के विरुद्ध अधिकार नहीं पा सकता है। उनका कहना है कि प्रत्येक अधिकार के लिए तीन बातों की आवश्यकता है। एक तो अधिकार का दावा करने वाला, दूसरा जिसके विरुद्ध अधिकार माँगा जाय और तीसरा उसको दिलानेवाली शक्ति अर्थात् राज्य। यदि कोई व्यक्ति राज्य के विरुद्ध ही अधिकार माँगता है तो उसको दिलाने के लिए राज्य से भी बड़ी शक्ति चाहिए। किन्तु उनका कहना है कि राज्य ( State ) सर्वशक्तिमान ( Sovereign ) होता है, अतः उसके विरुद्ध कोई अधिकार नहीं माँगा जा सकता है।

यह धारणा, जितनी दूर तक जाती है, तर्कपूर्ण प्रतीत होती है, किन्तु इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि सरकार के विरुद्ध कोई कानूनी अधिकार नहीं पाए जा सकते हैं। उक्त विद्वानों का कथन राज्य के विरुद्ध होने वाले प्राकृतिक अधिकारों की सम्भावना का खण्डन नहीं कर रहा है। मि० ग्रीन ( Green ) का तो यहाँ तक कहना है कि कानूनी अधिकार भी सरकार के विरुद्ध होते हैं और हो सकते हैं। उदाहरणार्थ

राज्य अपने नौकरों का वेतन देने के लिए कानूनन बाध्य है। अतः हम कह सकते हैं कि राज्य के नौकरों को राज्य के विरुद्ध एक कानूनी अधिकार प्राप्त है जिसे राज्य की ही अदालतें दिलाती हैं। अतः कार्य रूप में कानूनी अधिकार भी राज्य के विरुद्ध पाये जाते हैं। ऐसी दशा में राज्य के दो भिन्न रूप हो जाते हैं एक जिसके विरुद्ध कानूनी अधिकार माँगा गया और दूसरा जिसने कानूनी अधिकार की रक्षा की।

### अधिकार के मुख्य भेदः—

कानून विज्ञान-वेत्ता अधिकारों को प्रायः दो भागों में विभाजित करते हैं।

( १ ) सम्पूर्ण विश्व के विरुद्ध अधिकार ( २ ) निश्चित व्यक्तियों के विरुद्ध अधिकार। इसके सिवा व्यक्तिगत व वस्तुगत अधिकारों का अन्तर भी दिखाया जाता है। किन्तु इस प्रकार का विभाजन राजनैतिक क्षेत्र में कोई अर्थ नहीं रखता है। अतः राजनैतिक दृष्टिकोण से हम अधिकार को निम्नलिखित भागों में विभाजित कर सकते हैंः—

( १ ) जीवन का अधिकारः—प्रत्येक व्यक्ति को जीवित रहने का समान अधिकार है अतः कोई व्यक्ति दूसरे द्वारा जान से नहीं मारा जा सकता है।

( २ ) नागरिक अधिकारः—इसका तात्पर्य है दासता से छुटकारा तथा कानून के सामने समानता का व्यवहार।

( ३ ) सांस्कृतिक अधिकारः—शिक्षा प्राप्त करने, सभ्यता बढ़ाने एवं योग्य बनने के अधिकार सभी को मिलने चाहिए।

( ४ ) धार्मिक अधिकार:—मन चाहे धर्म को पालन करने व पूजा के ढंग का अधिकार । व्यक्ति को धर्म-परिवर्तन का भी पूर्ण अधिकार हो और यह परिवर्तन उसे किसी प्रकार भी कानून के सामने नीचा न गिराए ।

✓( ५ ) राजनैतिक अधिकार:—जनता को वोट देने व देश के राजनैतिक कार्यों में भाग लेने का अधिकार होना चाहिए । संधि निर्माण, बोलना व छापना तथा सभायें करना भी राजनैतिक अधिकार के अन्तर्गत आते हैं । इनकी भी पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए ।

( ६ ) आर्थिक अधिकार:—आर्थिक अधिकार के विषय में विद्वानों में मतभेद पाया जाता है । इस अधिकार का प्रधान अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन उचित घंटे काम करके जीविका पैदा करने का हक हो । उसे काम कुल निश्चित समय ही करना हो और वेतन कम से कम इतना मिले कि वह अपना जीवन छोटे में छोटे उचित पैमाने ( Minimum standard of living ) पर व्यतीत कर सके ।

### वर्तमान राज्य में अधिकार

वर्तमान राज्यों में प्रायः जीवन का अधिकार, नागरिक, राजनैतिक एवं धार्मिक अधिकार सभी को प्राप्त हैं किन्तु नागरिक एवं राजनैतिक अधिकारों की भावना में अन्तर है । इनके लोक-तंत्री तथा तानाशाही राज्यों में विभिन्न अर्थ लगाये जाते हैं । वर्तमान राज्यों द्वारा रक्षित अधिकारों की अलोचना करने वालों का कहना है कि जनता के

आवश्यक अधिकार आर्थिक तथा सांस्कृतिक हैं और इनकी पूर्ण रक्षा न होने के कारण अन्य अधिकार एक मिथ्याडम्बर ही रह जाते हैं। उदाहरणार्थ एक मजदूर जिसे प्रति दिन दस घंटे कठिन परिश्रम करना पड़ता है और फिर भी उसे पेट भरने का प्रश्न परेशान ही किया करता है, अपने राजनीतिक अधिकारों का उपभोग अच्छी तरह किस प्रकार कर सकता है।

अतः लास्की ( Lasky ) के कथनानुसार जनता के अधिकारों को वास्तविक रूप देने के लिए उनके आर्थिक अधिकार की रक्षा होनी अत्यन्तावश्यक है। उनकी धारणा है कि हमारे अधिकारों की रक्षा के लिए हम स्वयं उनकी रक्षा करने योग्य बनाये जायें। अधिकार की रक्षा के लिए यह पर्याप्त नहीं है कि देश के शासन-विधान के अन्दर एक वाक्य इस सम्बन्ध में भी लिख दिया जाय और न तो यही पर्याप्त है कि महकमा अदालत उसका रक्षक निर्धारित कर दिया जाय। संयुक्त राज्य अमरीका का शासन-विधान वहाँ रहने वाले हबशियों के लिए कुछ अधिकारों की व्यवस्था करता है। किन्तु यह बात सभी को विदित है कि वास्तविक क्षेत्र में वेचारे हबशी अपने बहुत से अधिकारों का उपभोग नहीं कर पाते हैं। रही अदालत द्वारा होने वाली अधिकार की रक्षा। इसकी सफलता हम सभी को मालूम है। अदालतों द्वारा अधिकार की रक्षा के लिए वह खर्चीली मुद्ददने-बाज़ी करनी पड़ती है जिसे साधारण स्थिति की जनता सहन नहीं कर सकती है आज भारत के किसानों में जाकर यह अच्छी तरह से देखा जा सकता है कि जनता आर्थिक असमर्थता के कारण अपने अधिकार

का अपहरण किस प्रकार शान्ती के साथ सहन कर लेती है। अतः अधिकारों की वास्तविक रक्षा के लिए नीचे लिखी बातों का होना अत्यन्त आवश्यक हैं।

( १ ) देश की शक्ति एक स्थान पर केन्द्रित न होकर पंचायतों के रूप में सम्पूर्ण देश में वितरित होनी चाहिए। जब शक्ति एक ऐसे सुदूर स्थान पर केन्द्रित होती है जो जनसाधारण की पहुँच तथा जानकारी के परे है तो जनसाधारण प्रायः अपने अधिकारों का अपहरण जान ही नहीं पाते हैं और जानते हुये भी उनकी रक्षा नहीं कर सकते हैं। हमारे जीवन में सम्बन्ध रखने वाले साधारण कार्य हमारे उन निर्वाचित पड़ामियों के हाथ में होने चाहिए जिनके सम्पर्क में हम प्रति दिन आ सकते हों और जिनके कार्यों का ध्यान पूर्वक देख सकते हों ताकि वे हमारे अधिकारों को बगैर हमारी जानकारी के कुचल न डालें।

( २ ) भिन्न २ व्यवसायों में सम्बन्ध रखने वाले कार्यों के लिए भिन्न २ प्रतिनिधि-समुदाय होने चाहिए और केन्द्रीय सरकार किसी व्यवसाय विशेष में सम्बन्ध रखने वाले किसी भी कार्य की उसके प्रतिनिधियों की मंत्रणा बिना लिए न लुंवे।

( ३ ) वर्ग एवं व्यक्ति के आन्तरिक जीवन में हस्तक्षेप कर सकने वाली शक्ति पर वैधानिक बन्धन होने चाहिये।

अधिकार हमारे जीवन में विशेष स्थान रखते हैं। इनके अपहरण से मनुष्य की आत्मा का हनन होता है। इनके बिना मनुष्य पशु के तुल्य हो जावेगा। अतः इनकी रक्षा करना हमारा परम

धर्म है। हमें क्या अधिकार मिलने चाहिए इसकी निर्धारक सरकार नहीं हो सकती है, इसका निर्णय तो शिक्षित एवं जाग्रत जनता के हाथ में है।

## उपसंहार

पिछले अध्यायों में हमने अपनी सामर्थ्य के अनुसार सभी खास खास सिद्धान्तों का विवेचन करने की कोशिश की है। किन्तु सम्भव है कि कुछ पाठक इस बात के भी जानने की इच्छा करें कि लेखक स्वयं किन सिद्धान्तों का मानने वाला है और क्यों ? वस, इन्हीं दोनों प्रश्नों के उत्तर के साथ मैं इस छोटी सी पुस्तक को समाप्त करता हूँ।

यदि आप से पूछा जावे कि हमें शोषण-परतंत्रता, युद्ध, निर्बलों का हनन, स्वार्थ, श्रेणी-कलह, पर-पीड़न और मक्कारी का साथ देना चाहिये या उन सिद्धान्तों का जो विश्वप्रेम, विश्वशान्ति और समस्त मानव-समाज के हित की ओर जाते हों, जो भूखों को रोटी व नंगों को कपड़ा पहुँचाने, परतंत्र को स्वतंत्र बनाने, पत्नियों को ऊपर उठाने, युद्ध की बर्बरता को निमूल करके वसुधैव कुटुम्बकम् को चरितार्थ करने की कोशिश करते हों, तो आप एक ही उत्तर दे सकते हैं। वस, अब देखना इतना ही है कि कौन से सिद्धान्त पहले नतीजों को पैदा करते हैं और कौन से दूसरे नतीजों को।

पहिले व्यक्तिवाद को ही लीजिये। इसका व्यक्ति-स्वातंत्र्य का सिद्धान्त बड़ा ही आकर्षक मालूम होता है। स्वतन्त्रता किसको नहीं प्यारी। किन्तु यदि गहरी निगाह से देखिये तो मालूम होगा कि व्यक्तिवादियों की स्वतन्त्रता की भावना कितनी सकुंचित, अभावात्मक और

हेय है। सब को विकास के अवसर देना, जो वास्तविक स्वतन्त्रता के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। उन्हें स्वतन्त्रता का अपहरण करना मालूम होता है। वे कमजोरों को दबाकर नष्ट कर देने की बात प्राकृतिक यानी कुदरती बतलाते हैं। उनकी निगाहों में जानवर, पेड़ पौधे और आदमी सब बराबर हैं। उनके सामने मानवता और पशुता में कोई अन्तर नहीं। आज इतिहास ने व्यक्तिवाद को निकम्मा और भ्रान्त साबित कर दिया है। जिन सिद्धान्तों के अनुसार गरीबों व असहायों के लिये औपचारिक खोलना, बच्चों के लिये अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध करना, भूखों व नंगों को रोटी कपड़ा पहुँचाना सिद्धान्त के विरुद्ध माना जाता है, वे इस मानवी जगत में क्योंकर माने जा सकते हैं? इसीलिये तो व्यक्तिवाद आज एक गई गुजरी चीज़ है। फिर भी हमें यह निश्चित कर लेना चाहिये कि हमें मानवता से गिर कर पशुता पर नहीं जाना है। हम सिद्धान्त मनुष्य समाज के विकास के लिये चाहते हैं उसे रसातल को ले जाने वाले सिद्धान्त हमें क्योंकर मजूर हो सकते हैं।

अब साम्राज्यवाद, उसके दादा पूँजीवाद और उसके अन्य कुटुम्बी जैसे फासिस्टवाद, नाजीवाद इत्यादि को लीजिये। यह दानवी सेना कितनी स्वार्थनिराकरण, कितनी रुधिर पिपासा से विह्वल, क्रूरता व निर्दयता में अपना वैभव समझने वाली तथा पैशाचिक प्रवृत्तियों में संलग्न और मानवता से गिरी हुई है। इसका ठीक अन्दाजा वही लगा सकते हैं जिनके शरीरों ने इस सेना के बिकराल पंजों का तीक्ष्ण अनुभव किया है। दूसरे की स्वतन्त्रता को हरण करने के इरादे, दूसरे की रोटियाँ छीन

कर अपना पेट आराम के साथ भरने की नीति, दूसरे के पतन में अपना उत्थान समझने की गंदी बुद्धि किसको प्रिय होनी चाहिये ? युद्ध बर्बरता को प्राकृतिक बताना, जनता की स्वतन्त्रता का अपहरण, राज्य-कर ईश्वरदत्त अधिकार समझना, अपने अत्याचारों द्वारा दूसरे को 'सभ्य' बनाने की बिडम्बना इत्यादि पशुता के चिन्ह हैं। हमें विश्वास रखना चाहिये कि इस राक्षसी सेना का विनाश करने वाले सिद्धान्तों का अवतार हो चुका है। किन्तु आज शक्ति तथा शस्त्रों में विश्वास रखने वाले राक्षस इस मानव-जगत को जहाँ शान्ति और प्रेम का साम्राज्य होना चाहिये, पैशाचिक बर्बरता का मैदान बनाये हुये हैं।

आओ, अब मार्क्सवाद या कम्युनिस्टवाद और अराजकवाद पर एक नजर डालें। मज़दूरों की दयनीय दशा को देख कर उनके उद्धार की सफलता पूर्वक आवाज़ उठाने के लिये संसार को कार्लमार्क्स का कृतज्ञ होना चाहिये। जिस समय पूँजीवाद का बोलवाला था और मज़दूर जिल्लत और मुसीबत की जिन्दगी बिताते थे, जिस समय उनके प्रति समवेदना दिखाने की किसी की हिम्मत नहीं हो सकती थी, उस समय मार्क्स ने राज्य की ओर से धोर यातनाओं की कुछ भी परवाह न करके मज़दूरों के हित साधन के लिये अपने प्राणों की बाजी लगादी थी। अपने अधिकारों के लिये लड़ना ही नहीं अपने अधिकारों को समझना भी संसार के मज़दूरों को सबसे पहले मार्क्स ही ने सिखलाया। उसके इन वाक्यों में, “दुनिया के सब मज़दूरों एक हो जाओ।” सत्ता और पूँजी के विरुद्ध एक साथ निकल पड़ो। हारोगे तो केवल तुम्हारी बेड़ियाँ छिन जायगीं, किन्तु जीतने के लिये सारा विश्व तुम्हारे सामने

है।” कितना गहरा सत्य छिपा है। किन्तु इस मार्क्सवाद के अन्दर श्रेणी युद्ध खटकने वाली वस्तु है। मार्क्सवाद वर्गयुद्ध को एक अनिवार्य वस्तु बतलाता है। मज़दूरों की हालत गिरी हुई है। उसे उठाने की ज़बरदस्त आवश्यकता को केवल हृदयहीन ही इनकार कर सकते हैं। किन्तु श्रेणी युद्ध या खूनी क्रांति को ही उसका एक मात्र उपाय समझना मनुष्योचित और ठीक नहीं मालूम होता। सुधार के अन्य उपायों में इतना गहरा अविश्वास लेखक के दिमाग में समा नहीं रहा है। फिर इस विश्व व्यापी खूनी क्रान्ति की अनिवार्यता ज़ाहिर में दिखाई भी दे तो भी उसे बचाने की कोशिश करना हमारा कर्तव्य है न कि उसे लाने की। कौन कह सकता है कि इस तरह की क्रान्ति की धधकती हुई भट्टी से, जिसमें सारा समाज एक पिघले हुये पदार्थ की भाँति होगा, निकल कर वह वाञ्छित रूप ही धारण करेगा। क्या यह मुमकिन नहीं कि मारकाट के युद्ध में अन्त में मज़दूर हारें और इस प्रकार नतीजा बिल्कुल उल्टा हो जाय।

अराजकवाद सभी साध्य उपायों द्वारा यानी जिस उपाय से भी हो सके संसार के राज्यों ( Sovereign states ) का नाश कर एक ऐसा स्वतंत्र समाज स्थापित करने की सुखमय कल्पना है जिसमें न कोई राज्य शक्ति हो न कोई कानून। कल्पना बड़ी ही मधुर और आकर्षक है। किन्तु हकीकत यह है कि मानव समाज या मनुष्य स्वभाव से अपराधों का पूरी तरह मिटा सकना नामुमकिन है। यदि अपराधों का अस्तित्व नहीं मिट सकता तो कानून या व्यवस्था की आवश्यकता भी अनिवार्य है। यदि वर्तमान राज्य व्यवस्थायें बिल्कुल नष्ट कर

दी जायँ तो हम फिर समाज को उस युद्ध की प्राकृतिक अवस्था तक पहुँचा देंगे जिसमें फिर 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत चरितार्थ होगी इसलिये अराजकवाद के सिद्धान्तों का अमल में लाया जासकना न तो मुमकिन ही है और न हितकर। वह एक सुखमय स्वप्न है जिस के पीछे दौड़ना बुद्धिमानी नहीं !

राष्ट्रवाद के सम्बन्ध में हमें विशेष नहीं कहना है। आज हमारे देश के बड़े लोगों को भी राष्ट्रवादी बनना पड़ रहा है गुलाम देश के हर नागरिक का राष्ट्रवादी बनना परम कर्तव्य है। आज हम अपने को गर्व के साथ राष्ट्रवादी कह सकते हैं, किन्तु सिद्धान्त रूप से इस वाद का समर्थन करने को हम हरगिज तैयार नहीं। एक स्वतन्त्र देश और एक परतन्त्र देश की राष्ट्रवादिता में जमीन आसमान का अन्तर है। परतन्त्र देशों की राष्ट्रवादिता का अर्थ है अपने को गुलामी से आज़ाद करने की कोशिश, किन्तु स्वतन्त्र देशों के राष्ट्रवादी अपने देश की उन्नति के आवेश में अपने नागरिकों को पैशाचिक साम्राज्यवाद की ओर ले जाते हैं। आज इटली, जापान, जर्मनी इत्यादि स्वतन्त्र राष्ट्र राष्ट्रवादी हैं, और इसीलिये साम्राज्यवादी भी हैं।

इसीलिये मनुष्य को अपनी सद्भावनाओं का दायरा सम्पूर्ण विश्व तक बढ़ा रखना चाहिये। उसे सम्पूर्ण विश्व को एक राष्ट्र समझना चाहिये। हमें तो वही सिद्धान्त स्वीकार होने चाहिये जिनका ध्येय सम्पूर्ण विश्व का हित हो। मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म छोटे बड़े, और गरीब सभी से प्रेम करना असहायों की सेवा करना और दूसरे के हित के लिए स्वयं सब सहन करना है। हमें सार्वभौम हित की

कामना करनी चाहिये । इस दृष्टि से इस पुस्तक का लेखक अन्तर्राष्ट्रवादी है । किन्तु यह सिद्धान्त भी विवाद ग्रस्त है । आज हमारे सामने अन्तर्राष्ट्रवादी के दो रूप हैं । एक मार्क्सवादी और दूसरा गांधीवादी । समाजवाद के अन्तर्गत सभी समुदाय अन्तर्राष्ट्रवादी हैं । संसार में अधिकार तथा वितरण की दूषित व्यवस्था को देखकर हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि भूखों की जठराग्नि शान्त करने में यदि कोई आर्थिक नीति सफल हो सकती है तो वह समाजवादी नीति है । किन्तु विश्व में शान्ति स्थापित करने के लिये अन्तर्राष्ट्रवाद पहले पूँजीवाद को अन्त कर देना जरूरी सम्भत्ता है । इसके लिये कार्लमार्क्स ने दुनिया भर के मजदूरों का जगत-व्यापी खूनी क्रान्ति के लिये अवाहन किया है । उनकी राय है कि सत्ता मजदूरों के हाथ में आजाने पर ही शान्ति स्थापित हो सकती है । वर्तमान जगत की वितरण व्यवस्था से सभी हृदयवान दुखी है । इस पुस्तक का लेखक वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन चाहता है, किन्तु यह परिवर्तन सबकी सदभावना से । गाँधीजी के बतलाए हुए अहिंसा के उपायों द्वारा किये जायँ । राजनीति में अहिंसा का सिद्धान्त अभी एक नवजात शिशु है । अभी उसका लालन पालन बालक कृष्ण की भाँति वृज की कुंजों में ही हो रहा है । तो भी इस बालक ने बहुत से राक्षसों का हनन करना प्रारम्भ कर दिया है । हमें पूर्ण विश्वास है कि अजेय अहिंसावाद अपने यौवन काल में इस भूतल को समस्त शोषणकारी दानवों से मुक्त कराने में पूरी तरह समर्थ होगा । लेखक के हृदय से श्रेणी युद्ध की निस्वत अहिंसा के लिये अधिक ऊँचा स्थान है । उसे विश्वास है

कि अन्तर्राष्ट्रीय वैमनस्य रूपी व्याधि रोग के लिये अहिंसा का विकास रामबाण औषधि होगा । आज कल के बढ़ते हुये पूँजीवाद का कारण अठारहवीं शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति है । इसलिये गांधीवाद पूँजीवाद पर सीधा हमला न करके घरेलू उद्योग धन्धों ( Cottage industries ) को फिर से जिन्दा कर देने का समर्थक है । इन घरेलू और खास कर गावों के उद्योग धन्धों के उत्थान का अर्थ होगा बड़े २ कारखानों और मिलों की निरर्थकता । उससे खुदबखुद पूँजीवाद व साम्राज्यवाद सभी ठिकाने लग जायेंगे । लेखक अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और मेल चाहता है । किन्तु वह उसे मार्क्सियन सिद्धान्तों की जगह गाँधीवाद द्वारा कायम किये जाने का अधिक विश्वासी है । पुस्तक की अन्तिम पंक्ति में यह लिखते हुये लेखक को हर्ष होता है कि उसकी अन्तरात्मा गांधीवादी अन्तर्राष्ट्रवाद (Gandhan Internationalism) के साथ है ।











